प्रकाशक :
आदर्श-साहित्य-संघ
सरदारशहर (राजस्थान)

श्री हंसराज बच्छराज नाहटा
सरदारशहर निवासी
द्वारा
जैन विश्व भारती, लाडनूं
को सप्रेम भेंट –

मुद्रक :
मदनकुमार मेहता
रेफिल आर्ट प्रेस
(आदर्श-साहित्य-संघ द्वारा संचालित)
३१, बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता ।

भूमिका

आचार्य श्री तुलसी जैन श्वेताम्बर तेरापन्थकी गुरु-परम्परा में नवम पट्टधर आचार्य हैं। पहली भेंट में व्यक्तिसे नहीं पा सका, गुरुके ही दर्शन हुए। समय कम था और भेंट कुछ तेरापंथी भाइयोंके आग्रहकी पूर्तिके निमित्तसे हुई थी। मैं बाहरी आदमी था और जिस पूजा और महिमाका वलय मैंने उनके चारों ओर पाया, वह मुझे अनुपेक्षित हुआ। इससे लौटा तो कुछ विशेष भाव मेरे साथ नहीं गया बल्कि कुछ अन्तर रह गया और अरुचि सी हुई।

मेरा मानना है कि आचार्य श्री तुलसीके व्यक्तित्वको पानेमें यह साम्प्रदायिक वातावरण अन्तराय बना रहता है। इससे जो उन्हें प्राप्य है मिल नहीं पाता और हमें देय है, हम दे नहीं पाते

उसके बाद अणुव्रती-संघकी स्थापनाका समाचार अखबारोंमें पढ़ा। संघके व्रतोंने और नियमोंने ध्यान खींचा। संघका पहला अधिवेशन दिल्लीमें हुआ उस समय तेरापन्थी भाइयोंने याद किया और चाहा कि मैं उसमें सम्मिलित होऊं। मैंने अपने में पर्याप्त रुचिका अभाव पाया और क्षमा चाही। उत्सवसे पहले संघकी एक अन्तरंग बैठक थी, उसमें जाना मैंने स्वीकार किया। उस सभाका मुझपर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। घंटा भर मैं मूक साक्षी बना बैठा रहा और सभाके विसर्जन पर तुलसीजीसे बात-

चीत हुई। बातचीत खुलकर हुई और मैं मनमें प्रसन्नता लेकर लौटा। उस दिनसे मैं तुलसीजीके प्रति अपनेमें आकर्षण अनुभव करता हूं और उनके प्रति सराहनाके भाव रखता हूं। किसी कारणसे वह सराहना कम नहीं हो सकी है और उस परिचयको मैं अपना सद्भाग्य गिनता हूं।

अनेक मेरे बन्धुओं और हितैषियोंको यह बात समझ नहीं आती। वह कर्मशील हैं और बुद्धिवादी हैं और मुझको उस कक्षासे बाहर नहीं मानते हैं। सम्प्रदायोंमें और सम्प्रदायगत धर्म-पंथोंमें उन्हें प्रतिगामिता दिखती है। उनके प्रति किसी सराहनाको वे समझ नहीं सकते। वे कृपा करते हैं और मित्रता में मुझे सहते हैं। किन्तु मेरी सराहनाको सहना वे अपना कर्तव्य नहीं मानते और वे ठीक हैं।

आज विलक्षण युगमें हम रहते हैं। बड़ा जागरूक और चौकन्ना हमें रहना पड़ता है। मतवाद बहुत हैं और सब ही हमारी श्रद्धाके दावेदार बनकर सामने आते हैं। ऐसे में श्रद्धा किस-किसको दी जाय? परिणाम यह कि सदा और चारों ओर हमें अपनी आलोचनाको जगाये रखना होता है। ऐसे ही हम अपनेको बचाते हैं। नहीं तो शायद लुट जांय और अपनेको खो बैठे।

जानता हूं जमाना ऐसा है। मैं खुद गुरुओंकी उतनी आवश्यकता नहीं देखता जितनी सेवकों की। ज्ञान देनेवाला नहीं, स्नेह और सहानुभूति देनेवाला चाहिए। इसी तरह वादके प्रचार

से भ्रमका प्रसार ज्यादा देखनेकी इच्छा होती है। यों आलोचनाको सहसा हाथसे मैं छोड़ता नहीं हूं, फिर भी धर्मके व्यक्तियोंके प्रति मेरे मनमें सराहना हो आती है। धर्मके साथ सम्प्रदाय हैं, पंथ हैं, कट्टरता है, रूढ़िवादिता है। इसके अलावा धर्मके विरोधमें जो तर्क हैं उनको भी जानता हूं। फिर भी सराहना रुक नहीं पाती है और ऐसा लगता है कि वहां कितनी भी राख हो, पर उस कारण चिनगारीका अपमान कैसे हो सकता है।

मुझे अंधेरा दीखता है। मुझे चिनगारी की खोज है। झमेला बहुत है और दल बहुत हैं जो प्रकाशको उतारनेका दम भरकर सामने आते हैं। उनके कर्तव्य रोज मैदानमें देखता हूं। उनसे अन्धेरा छूटता नहीं दीखता। वहां चिनगारी होने का भरोसा मुझे नहीं होता। मालूम होता है वह सत्ताका परिवर्तन चाहते हैं और शेष परिवर्तन सत्ताको हाथमें लेकर उसके द्वारा करना चाहते हैं। बहुत सी योजनायें, लोक-मंगल और जन-कल्याणकी योजनायें, फंड जुटानेमें जुटी हैं। वह तो सब देखता हूं, उन सब प्रयत्नोंके बारेमें नास्तिक हूं ऐसा भी नहीं, पर मन नहीं भरता। चिनगारीकी मांग उनके बाद भी रह ही जाती है।

तुलसीजी को देखकर ऐसा लगा कि यहां कुछ है, जीवन मूर्च्छित और परास्त नहीं है, उसकी आस्था है और सामर्थ्य है। व्यक्तित्वमें सजीवता है और एक विशेषप्रकारकी एकाग्रता, यद्यपि हठवादिता नहीं। वातावरण के प्रति उनमें ग्रहणशीलता है और दूसरे व्यक्तियों और समुदायोंके प्रति संवेदनशीलता।

एक अपराजेय वृत्ति उनमें पाई जो परिस्थितिकी ओरसे अपने में शैथिल्य लेनेको तैयार नहीं है बल्कि अपने आस्था-संकल्प बल पर उन्हें बदल डालनेको तत्पर है। धर्मके परिग्रह-हीन आकिंचन्यके साथ इस सपराक्रम सिंह-वृत्तिका योग अधिक नहीं मिलता। साधुता निवृत्त और निष्क्रिय हो जाती है। वही जब प्रवृत्त और सक्रिय हो तो निश्चय मनमें आशा उत्पन्न होती है।

यह नहीं कि असहमतिको स्थान नहीं है। वह तो है, लेकिन वह दूसरी बात है। मुख्य यह है कि आचार्य श्री तुलसीके व्यक्तित्वमें मुझे विघटन कम प्रतीत होता है। आचार, उचार और विचारमें बहुत कुछ एकसूत्रता है। इसीसे व्यक्तित्वमें वेग और प्रभाव है।

वह आचार्य-पद पर हैं। एक समुदाय और समाज उनके पीछे है। कोई सात सौ साधु-साध्वी उनके आदेश पर हैं। यह एक ही साथ उनकी शक्ति और मर्यादा है। यदि वह आरम्भमें अकेले होते और प्रयोगके लिए मुक्त, तो क्या होता? इस सम्भावना पर कभी कल्पना जाकर रमना चाहती है। लगता है तब मार्ग सरल न होता, पर शायद कठिन ही हम लोगोंके लिए कीमती हो जाता।

जो हो, उनके व्यक्तित्वको प्रकाशमें लानेवाली इस पुस्तकका प्रकाशन समयोपयोगी है। लेखक उनके निकटवर्ती मुनि हैं। पुस्तकमें अध्ययन और विवेचनके चिह्न हैं। साथ ही जैसा कि

अवश्यंभावी था, दृष्टिकोण समीक्षासे अधिक स्तुतिका है। किन्तु इसके उपयोगसे और दूसरी आवश्यक सामग्रीके संयोजनसे यदि श्री तुलसीके व्यक्तित्व पर समीक्षा-पूर्ण विवेचनात्मक पुस्तक निकल सके तो यह और भी उपयोगी होगा। कारण, मैं उस व्यक्तित्वमें संभावनायें देखता हूं।

ऋषिभवन, ८ फैजबाजार,
दिल्ली, १८।१२।५२,

आचार्य श्री तुलसी (जीवनपर एक दृष्टि) के प्रकाशन में सरदारशहर निवासी श्रीमान् हनुमानमलजी इन्द्रचन्दजी चोरड़िया ने अपने स्वर्गीय पूज्य पिता श्री भीकनचन्दजी चोरड़िया की पुण्य-स्मृतिमें नैतिक सहयोगके साथ आर्थिक योग देकर अपनी सांस्कृतिक व साहित्यिक सुरुचिका परिचय दिया है जो सबके लिए अनुकरणीय है। हम आदर्श-साहित्य-संघ की ओरसे सादर आभार प्रकट करते हैं।

—शुभंकरण दसानी

प्रकाशन मन्त्री

विषयानुक्रम

आचार्य-जीवन

आचार्य श्री तुलसी

(जीवन पर एक दृष्टि)

विश्वकी गतिविधि

आज विक्रम सम्वत् २००८ है। मुझे विक्रम सम्वत् १९७१ तक मुड़ना है। बीचके इन ३७ वर्षोंमें जो कुछ हुआ, मुझे नया लगा, आश्चर्यकारी जचा, उस पर लिखूं, जी चाहता है।

विश्व के चित्रपट पर नये-नये रंग खिले और मिट गये। साम्राज्यवाद भूमिसात् हुआ जा रहा है। सामन्तवादकी जड़ें हिल गईं। पूंजीवाद लड़खड़ा रहा है। जन और जनताका घोष एक छोरसे दूसरे छोर तक टकरा रहा है। इधर और उधर चारों ओर लाल क्रांतिकी बातें हैं। यह कोई नई बात नहीं, इस पर क्या लिखूं।

यह दृश्य जगत्की बात हुई। अब आन्तरिक जगत्की ओर चलिए। वहां भी कुछ हुआ है—लोगोंकी श्रद्धा हिल गई, धर्म

अभिशाप बन गया, दिल और दिमाग धीरज खो बैठे। समयकी गति टेढ़ी है। कल तक नहीं हुआ, वह आज हो जाता है, इस पर क्या आश्चर्य किया जाय।

प्रकाशमें अन्धकार आए यह आश्चर्यकी बात नहीं, दुनियां का स्वभाव ही ऐसा है। अन्धकारमें प्रकाशका पुञ्ज दिखाई दे, यह आश्चर्यकी बात है।

आजकी दुनियां बुरी तरहसे राजनीतिके पीछे पड़ी हुई है। वह उसीमेंसे सुख और शान्तिका स्रोत निकालना चाहती है। पर यह होनेकी बात नहीं। सुख और शान्ति ये दोनों प्राणीकी वृत्तियोंमें रहते हैं, अनुभूतिमें रहते हैं, संक्षेपमें—चैतन्यमें रहते हैं। राजनीतिके पास वह नहीं है, उसके पास हैं—धन और भूमि, सत्ता और अधिकार, एक शब्दमें - जड़ता। मूलमें भूल है, इसीलिए सही मार्ग मिल नहीं रहा है। भगवान् महावीर जैसे अहिंसाप्रधान और महात्मा बुद्ध जैसे करुणाप्रधान पुरुष इस धरती पर आए, फिर भी इसका दिल नहीं पसीजा। ईसा-मसीह जैसे दयालु और महात्मा गांधी जैसे विराट् पुरुषको इसने नहीं अपनाया। हिंसासे अहिंसा, घृणासे करुणा, स्वार्थसे दया और साम्प्रदायिकतासे विराट्ता दबी जा रही है। आखिर एक दिन मनुष्य सोचेगा कि मार्ग इस धरती पर है नहीं।

एकतन्त्र और जनतन्त्रका संघर्ष छिड़ा। जो भूल थी, वह नीचे गिरी और जो सुधार था, वह आगे बढ़ा। जनतन्त्र और साम्यतन्त्रका संघर्ष चल रहा है। देखें, कौन कहां जा बैठता है।

साम्यवाद भी आगे चल किसी अपने अनुजसे संघर्ष मोल न ले, यह माना नहीं जा सकता। इसमें भी सत्ता और पूंजीका एक-छत्र राज्य है।

एकके बाद दूसरी सत्ता और एकके बाद दूसरे वाद आये। उनसे सुख-शान्तिका द्वार नहीं खुला तो उनके हृदयमें धड़कन कैसे बनी रही? यह एक प्रश्न है। इसका उत्तर पानेके लिए विशेष गहराईमें जानेकी जरूरत नहीं। उनसे कुछ नहीं बना या बनता यह नहीं; उनसे मनुष्यको रोटी मिली, मकान मिला, सुरक्षा मिली, जीवन चलानेवाले साधन मिले, पर जो इनसे आगे है (सुख-शान्तिका मार्ग), वह नहीं मिला।

मनुष्यके उर्वर मस्तिष्कने खोज की। मनका बन्धन तोड़ा। उसने पाया कि जीना ही सार नहीं. जीनेका सार है जीवनका विकास करना। बस इसी विचारधाराने धर्म और अध्यात्मवाद को जन्म दिया। एक विद्यार्थीने आचार्य श्री तुलसीसे पूछा—"शान्ति कब होगी?" आपने उत्तर दिया—"जिस दिन मनुष्य में मनुष्यता आ जायगी।" मनुष्य अपनी सत्ताको समझे बिना जाने-अनजाने मनुष्यतासे लड़ता आ रहा है। मानवताका पुजारीवर्ग उस मनुष्य आकारवाले बेभान प्राणीको समझाता आ रहा है। लाखों करोड़ों वर्ष बीते, फिर भी वह लड़ाई ज्यों की त्यों चालू है। दोनोंमेंसे न कोई थका, न कोई थमा, यह आश्चर्य है। इस पर लिखूं—ऐसा मेरा संकल्प है।

विषय-प्रवेश

मूल बात यह है, मुझे आचार्य श्री तुलसीके जीवनका अध्ययन करना है। कहां तक सफल हो सकूंगा, इसकी मुझे चिन्ता नहीं। मैं संग्राहक हूं, पारखी नहीं। तथ्योंका संकलन करना मेरा काम है, कसौटी बननेके लिए मैं दुनियांको निमन्त्रण दूंगा। इसलिए दूंगा कि इससे उनके जीवनका सम्बन्ध है, जो मनुष्याकार प्राणीसे लड़नेवाले वर्गके प्रतिनिधि हैं। आजके मानवकी दृष्टिमें सबसे जटिल समस्या रोटी और कपड़ेकी है। आप इससे सहमत नहीं। आपने एक प्रवचनमें कहा—"रोटी मकान और कपड़ेकी समस्यासे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या मानवमें मानवताके अभावकी है।" भौतिकवाद और अध्यात्मवादके बीच यह एक बड़ी खाई है। इनकी सन्धि— समझौता सम्भव नहीं लगता।

अध्यात्मवादकी दृष्टि यह है—रोटी मुश्किल नहीं अगर तुम उसके पीछे न पड़ जाओ। वह तुम्हारे श्रमका परिणाम है, तुम्हें न मिले यह कैसे हो ? भींतसे परे भी कुछ है, इसे मत भुलाओ। जीवनकी लम्बी शृङ्खला एकदम टूट जायेगी, क्या यह संभव है ?

शोषण और विषमता जो बढ़े, उसका कारण हिंसा है। हिंसा से हिंसा मिटाने की जो सूझ आ रही है, वह गलत है।

अहिंसा पूर्ण समतावाद है। उसके भाव आवें तो न शोषण रह सकता है और न वैषम्य। व्यष्टिका ममत्व और संग्रह समष्टिमें चला जाये, इससे मूलभूत समस्याका समाधान नहीं हो सकता।

हिंसा और अहिंसाके द्वन्द्वकी चर्चा करते हुए एक बार आपने कहा—

"हिंसाकी भांति अहिंसा सफल नहीं हो सकती, कई लोगों की ऐसी धारणा है। परन्तु यह उनका मानसिक भ्रम है। आज तक मानव-जातिने एक स्वरसे जैसा हिंसाका प्रचार किया, वैसा यदि अहिंसाका करती तो स्वर्ग धरती पर उतर आता। ऐसा किया नहीं गया, फिर अहिंसाकी सफलतामें सन्देह क्यों ?"

यह सच है, भलाई भलाईसे मिलना नहीं जानती, बुराईको बुराईसे मिलनेके रहस्यका ज्ञान है। अगर दुनियांकी सब अहिंसक शक्तियां मिलजुलकर कार्य करें, सहयोग-भाव रखें तो आज भी अहिंसा हिंसाको चुनौती दे सकती है। मानव मूलतः अहिंसाका अखण्ड पिण्ड है। वह विकारी बन हिंसक बनता है। अहिंसा

उसका स्वभाव है और हिंसा विभाव। जब उसकी हिंसा उग्र बन जाती है, दूसरोंके लिए असह्य हो जाती है, तब वह अहिंसाकी ओर देखता है। गत दो महायुद्धोंने ऐसी स्थिति पैदा की है। उससे क्लान्त हो बहुत सारे कट्टर हिंसावादी अहिंसामें विश्वास करने लग गये।

अहिंसक समाजके लिए आजका युग स्वर्ण-युग है। आज भूमि तैयार है। उसमें अहिंसाका बीज सुलभतासे बोया जा सकता है। यदि समयका उपयोग नहीं किया गया तो फिर जो होता है, वही होगा।

एक प्रेरणा

तरुण तपस्वी आचार्य श्री तुलसी अहिंसाके महान् सेनानी हैं। आपके अहिंसा-आन्दोलनने फिर हिंसाको पैर हिलाये हैं। सुदूर पूर्व और पश्चिमसे यह जिज्ञासा आई कि यह क्या कुछ हो रहा है? इसका कर्तृत्व किसके हाथोंमें है, आदि आदि? अच्छा हो कि इस जिज्ञासाका समाधान मैं करूं।

मुझसे आपके जीवन, उसकी अनुभूतियों एवं कृतियोंका विश्लेपण होना सम्भव नहीं लगता, फिर भी मेरा यत्न आत्म-सन्तोषके लिये पर्याप्त होगा।

आज आपके जीवनका चौथा अध्याय चल रहा है। यह परिच्छेद आपके जीवनकी घटनावलियोंके आधार पर होता है।

जीवनकी बातें

आप वि० सं० १९७१ में जन्मे। ११ वर्ष तक घर पर रहे। उसके बाद वि० सं० १९८२ में

आप परम पूजनीय आचार्यश्री कालुगणीके शिष्य बने। ११ वर्ष उनकी चरण-सेवामें रहकर आपने शिक्षा ग्रहण की। २२ वर्षकी अवस्था (वि० सं० १९९३) में कालुगणीने आपको आचार्य-पद का भार सौंपा। उसके बाद आपने ११ वर्षका अपना अधिकांश समय और चिन्तन साधु-समाजके बहुमुखी विकासकी ओर लगाया। चालू अध्याय जन[१]-जीवनके जागरणका उद्देश्य लिये हुए है। यह आपका जीवन-वृत्तान्त है।

१—इस विषयकी विशेष जानकारीके लिए देखो जयपुर-यात्रा, पंजाब-यात्रा व दिल्ली-यात्रा।

बाल-जीवन

जिज्ञासाका स्रोत—व्यक्तिका व्यक्तित्व

कोई व्यक्ति कब और कहाँ जन्म लेता है, कैसे उसका लालन-पालन होता है, इसमें अपनेआप जिज्ञासा पैदा नहीं होती। व्यक्तिका अपना व्यक्तित्व ही उसमें जिज्ञासा भरता है। व्यक्ति जब व्यष्टिकी सीमा तोड़कर समष्टिमय बन जाता है, तब उसके प्रत्येक कार्यकी जानकारी अभिप्रेत हो जाती है। आचार्य श्री के पट्टोत्सवका अभिनन्दन करते मैंने एक वार लिखा था—

"जबतक तुम इस 'तुम' के भीतर, बंधे हुए थे स्वामी !
तबतक तुम 'तुम' में पलते थे, थे अपने तनके स्वामी ॥१॥
कौन तुम्हारी अर्चा करने, कब कहां था आया ?
किसने इन कोमल चरणों में, था अपना शीश नवाया ॥२॥
जब तुमने सद्‌बोधि लाभ कर, 'तुम' की मर्यादा तोड़ी।
जन-जन के अन्तर-मानस से, ममता-समान जोड़ी ॥३॥

स्वामी ! तव से बनपाये हो, जन-मन के अधिकारी ।
अन्तर्यामी बनपाये हो, जन-जन की बलिहारी ॥८॥

आचार्यश्रीके व्यक्तित्वकी झांकी पानेके साथ-साथ अगर पाठककी कब, कहाँ और कैसेकी जिज्ञासा शान्त नहीं होगी तो वह उसके प्रति असहयोग होगा। इसलिए मुझे वर्तमान तक पहुंचने से पहले अतीत पर भी एक सरसरी दृष्टि डालदेनी चाहिए।

सफलता का पाठ

वह अतीत, जो उज्ज्वल वर्तमानकी शृङ्खलाका संकलन करता है, जिसके गर्भमें सारी शक्तियां छिपी रहती हैं, क्या वह अभिव्यक्तिके बाद भुलानेकी वस्तु है ? नहीं। जो व्यक्ति अपने अतीतके अध्यायको नहीं पढ़ता, कार्य-कारणके परिणामों पर दृष्टि नहीं डालता, जागृति और अभ्युदय, भूल और सुधारके पन्नोंको नहीं उलटता, वह सफल मानव नहीं बन सकता। मानव किस रूपमें आता है और क्या से क्या बनता है, यह अतीत ही बता सकता है।

हाँ, तो आचार्यश्री का जन्मकाल बीसवीं शताब्दी (वि० सं० १९७१ कार्तिक शुक्ला २,) है।

बीसवीं सदी की विशेषता

अपने पूर्वजोंसे स्वयंको अधिक विकसित, सभ्य और सुसंस्कृत मानना, यह इस शताब्दीकी सबसे बड़ी विशेषता है। इससे 'श्रद्धा' की कैसी स्थिति बनती है, यह आप स्वयं समझ सकते हैं। आजका आदमी पुकार रहा है 'श्रद्धा' की कमी हो गई। क्यों हुई, इस पर भी जरा सोचे।

आपकी जन्मभूमि लाडनूं—जोधपुर डिवीजन—राजस्थान है। वह राजस्थान जो शुष्क और ग्रीष्मप्रधान होनेके उपरान्त भी आध्यात्मिक स्रोतों की सिंचाईसे हरा-भरा है।

जन्म-भूमि

पारिवारिक स्थिति

एक सम्पन्न ओसवाल-परिवारमें आप जन्मे। आपके पिताश्रीका नाम झूमरमलजी और माताश्रीका नाम वदनांजी है। आपने अपने 'अतीतके कुछ संस्मरण' शीर्षकसे वाल-जीवनकी स्मृतियां लिखीं। उनसे आपकी तात्कालिक पारिवारिक स्थिति का सजीव चित्र सामने आ जाता है :—

"मेरे संसारपक्षीय दादा राजरूपजी और पिता झूमरमलजी का देहावसान क्रमशः मेरी तीन और पांच वर्षकी अवस्थामें हो चुका था। मेरे दादाजी दृढ़-संहनन, विशालकाय, प्रसिद्धखुराक, धर्मप्रेमी और बड़े प्रतिष्ठित थे। मेरे पिताजी सरल प्रकृतिके थे। उनके अन्तिम वर्षोंमें संग्रहणीकी बीमारी हो गयी थी। परिवार बड़ा था। पिताजी कभी-कभी चिन्ता करने लगते कि अभी तक कोई ऐसा 'कमाऊ' व्यापारकुशल नहीं है, घरका काम कैसे चलेगा? तब दादाजी कहते—क्या चिन्ता है? परिवारमें कोई

एक ऐसा जीव पैदा होगा, जिसकी पुन्याईसे सब चमक उठेंगे।

माताजी चदनांजी प्रारम्भसेही बड़े शुद्धहृदय और सहज सरल स्वभाववाली थीं। वे दादाजी, दादीजी और मेरे पिताजी की बड़ी भक्तिसे सेवा करती रहीं। समूचे परिवारका पोषण, बुजुर्गोंकी सेवा, घरका संरक्षण आदि काम करनेमें उन्होंने अच्छा यश प्राप्त किया।

हमारे छः भाइयोंमें बड़े भाई मोहनलालजी थे। पिताजीके गुजर जानेके बाद समूचे घरका भार उनपर आया। उस समय हमारा घर कर्जदार था। परन्तु मोहनलालजी बड़े साहसी और अच्छे विचारक रहे हैं। उन्होंने अपनी कमाईसे समूचा कर्ज चुका कर घरको स्वतन्त्र बनाया। हम सब भाई मोहनलालजी को पिताके तुल्य समझते थे। मैं तो उनसे इतना डरता था कि उनके सामने बोलना तो दूर रहा, इधरसे उधर देखनेमें भी सकुचाता था।"

हिन्दुस्तानमें चिरकालसे संयुक्त पारिवारिक प्रथा चली आ रही है। एक मुखियाके संरक्षणमें रहना, अनुशासन और विनयका पालन करना, नम्र-भाव रखना, बड़ोंके सामने अनावश्यक न बोलना, हंसी-मजाक न करना आदि आदि इसकी विशेषताएं हैं। झूमरमलजीकी अपने परिवारके लिए चिन्ता करना, अन्य भाइयों द्वारा मोहनलालजीको पितातुल्य समझना, उनसे सकुचाना आदि आदि इस संयुक्त पारिवारिक प्रथाके पीछे रही हुई भावनाके परिणाम हैं। परिवारका लालन-

पालन, घरकी सार-सम्हाल, बुजुर्गोंकी एवं पतिकी सेवा करना भारतीय नारीकी आदर्श परम्परा रही है। वदनांजीके गृहस्थ-जीवनमें उसके पूर्ण दर्शन होते हैं।

व्यक्तिगत स्थिति

परिवारकी स्थितिका व्यक्तिके हृदय पर प्रतिबिम्ब पड़ता है। बालककी अपनी निजी विशेषताएं होती हैं। फिर भी परिवारके सदस्य और विशेषतः मां के कार्य-व्यवहार एवं आचार-विचार बालकके दिलको सीधे तौर पर छुए बिना नहीं रहते।

आचार्यश्रीने अपने संस्मरणोंमें लिखा है—"मेरी माताजीकी अधिक धार्मिक प्रकृति होनेके कारण सभी घरवालोंमें और मुझमें भी अच्छे धार्मिक संस्कार गहरे जम गये। रोजाना सतियोंके[1] दर्शनके लिए जाना, उनका व्याख्यान सुनना, सेवा करना आदि कार्योंमें बड़ी दिलचस्पी रहती थी।

---

१ लाडनूंमें वृद्ध साध्वियां स्थायी रूपसे रहती हैं, इसलिए विशेष-रूपमें उन्हींका नामोल्लेख किया गया है।

मैं कभी व्याख्यानमें नहीं जाता तो भी माताजीसे पूछता रहता—'आज क्या व्याख्यान बंचा, क्या बात आई ?"

"मुझे बचपनसे ही बीड़ी, सिगरेट, चिलम, तम्बाकू, भांग गांजा, सुलफा, शराब आदि नशीली वस्तुओंका परित्याग था। मैंने पान तक कभी नही खाया।"

बालकके लिए माता सच्ची शिक्षिका होती है बच्चा मांके प्यार दुलार और लालन-पालनका ही आभारी नहीं बनता, उसकी आदतोंका भी असर लेता है। गर्भकालसे ही माताका रहन-सहन, खान-पान, चाल-चलन बच्चेको प्रभावित करने लग जाते हैं। इसीलिए शरीर-शास्त्रियोंने गर्भवती स्त्रीको सात्विक आहार, सात्विक विचार और सात्विक व्यवहार करनेकी बात बताई है। और इसीलिए ये बेचारे शिक्षा-शास्त्री चीख-पुकार करते हैं कि अशिक्षित माताएं बच्चोंके लिए अभिशाप हैं। उनके हाथोंमें बच्चोंके उज्ज्वल भविष्यका निर्माण नहीं हो सकता। यह सही है।

वदनांजीके आचार-विचारकी आचार्यश्रीके हृदय पर अमिट छाप पड़ी और उससे संस्कार उद्बुद्ध हुए, इसमें कोई शक नहीं। मध्यकालीन भारतीय माताओंमें स्कूली पढ़ाईकी पद्धति नहीं रही। फिर भी वे परम्परागत रीति-रस्मोंमें बड़ी निपुण होती थीं। उनके संस्कारी हृदयोंको हम अशिक्षित नहीं कह सकते। आचार्यश्रीसे कई बार यह सुना कि वदनांजी बालकोंकी चिकित्सा अपने आप कर लेतीं।

भारतीय साहित्यमें सत्पुत्र वह माना गया है, जो मां-बाप

अथवा गुरुसे प्राप्त सम्पत्तिको बढ़ावे। यह बात हम आचार्यश्री के जीवनमें पाते हैं। बीजरूपमें मिले हुए संस्कारोंको पल्लवित करनेमें आपने कुछ उठा नहीं रखा। बचपनमें ही आपने अध्ययन, अध्यापन, अनुशासन, परोपकार और सचाईकी पुष्ट परम्पराएं पूर्ण विकसित कर लीं। मैं इनके कुछ उदाहरण आचार्य श्रीके शब्दोंमें ही उपस्थित करूंगा :—

"विद्याध्ययनमें मेरी रुचि सदासे रही। मैं जब ६-७ वर्षका था, तब स्थानीय नन्दलालजी ब्राह्मणकी स्कूलमें पढ़ने जाया करता। फिर कुछ दिनों बाद हीरालालजी बज जैनके वहां पढ़ता था। तब मैंने हिन्दी, हिसाब आदि पढ़े। मैंने इङ्गलिशकी 'ए-बी-सी-डी' भी नहीं पढ़ी। मुझे पाठ कण्ठस्थ करनेका बड़ा शौक था। उस (पाठ) का स्मरण भी बहुधा करता रहता। मुझे याद है कि मैं खेल-कूदमें भी बहुत कम जाया करता। जब कभी जाता तो खेलनेके साथ-साथ पाठका भी स्मरण करता रहता। पच्चीस बोल, चर्चा, हितशिक्षाके पच्चीस बोल, जाणपणाके पच्चीस बोल, नमस्कार-मंत्र, सामायिक, पंचपद-वन्दना आदि मेरे छुटपनसे ही कण्ठस्थ थे।

जब मैं स्कूलमें पढ़ता, तब और लड़कोंको पढ़ाया भी करता। मेरे जिम्मे कई लड़के लगे हुए थे। उनकी देख-रेख भी मैं करता। स्कूलमें जितने लड़के पढ़ते, उनके जो भी कोई अपराध हों, लिखे जाते और शामको मास्टरजीको दिखलाये जाते। यह काम भी मेरे जिम्मे कई दफा रहता था। स्कूलमें विक्रयार्थ जितनी पुस्तकें

आती, उनका हिसाब (विक्रय, मूल्य-संयोजन आदि) मेरे पास रहता। अनुशासन व अध्यापन ये दो कार्य बचपनसे ही मेरे आदतरूप बन गये थे। इसी कारण तथा अन्य कई कारणोंसे भी मेरी पढ़ाईमें काफी कमी रही। अर्थात् दश वर्षमें जितनी पढ़ाई होनी चाहिये थी, नहीं हो पाई।

सचाईके प्रति मेरा सदासे अटूट विश्वास रहा है! मुझे याद है कि एक दिन मोहनलालजीकी वहू (वड़ी भाभी) ने मुझसे कहा—'मोती[1]! ये पैसे लो, बाजारमें जा कुछ लोहेके कीले ला दो। नेमीचन्दजी कोठारी, जो मेरे मामा होते थे, मैं उनकी दूकान गया। उन्होंने पैसे विना लिये ही मुझे कीले दे दिये। वापिस आके मैंने वे भाभीको दे दिये और साथ-साथ पैसे भी दे दिये। यदि मैं चाहता तो पैसोंको आसानीसे मेरे पास रख सकता था, फिर भी सचाईके नाते मैंने वे नहीं रखे।"

मनोविज्ञान बताता है कि पांच वर्षकी अवस्थासे ही भावी जीवनका निर्माण होने लग जाता है। बालककी सहज रुचि अपने भविष्यकी ओर संकेत करती है। आप जानते हैं कि निर्माणमें अड़चनें भी कम नहीं आती। सन्धि-वेलामें विकास और ह्रासका विचित्र संघर्ष होता है। अन्तिम विजय उसकी होती है, जिसकी ओर बालकका कर्तृत्व अधिक झुकता है। आचार्यश्रीके जिस बाल-जीवनकी पाठकोंने स्वर्णिम पंक्तियां

---

१ मारवाड़ में भाभी अपने देवरके सम्बोधनके लिए 'मोती' शब्दका प्रयोग करती है।

पड़ीं, उसमें कुछ विषादकी रेखायें भी हैं। हर्षने विषाद पर विजय पा ली, यह दूसरी बात है. फिर भी इनका द्वन्द्व कम नहीं हुआ, प्रबल था।

संस्मरणकी कुछ पंक्तियां पढ़िए :—

"मुझे बचपनमें गुस्सा बहुत आया करता था। जब मैं गुस्सेमें हो जाता, फिर सबका आग्रह होने पर भी एक-एक दो-दो दिन भोजन तक नहीं करता।"

"मैं प्रकृतिका सीधा-सादा था, दांव-पेचोंको नहीं जानता था। मेरे एक कौटुम्बिकने मुझसे कहा—'ओरण'[1] में रामदेवजी का मन्दिर है (जहां तेरापन्थके अधिष्ठाता भिक्षु स्वामी बिराजे थे), वहां देवता बोलता है। पर उसको नारियल भेंट करना पड़ता है, अगर तुम तुम्हारे घरसे ला सको तो। मैं एक नारियल चोरी दावे ले आया। हम मंदिर में गये। कोई व्यक्ति अन्दर छिपा हुआ था, वह बोला। हमने बाहरसे सुना और सोचा—देव बोल रहा है। क्या बोला, पूरा याद नहीं। इसी जालसाजीसे बादमें कई नारियल चुराये और औरोंको खिलाये।"

नारियलकी चोरी

प्रसादकी अपेक्षा विषादकी मात्रा कम है। बहु-मात्रा अल्प मात्राको आत्मसात् कर लेती है, यही हुआ। दैवी-सम्पदाओंके सामने आसुरी संघर्ष चल नहीं सका। गुस्सेका स्थान अनुशासन

---

१ देवाश्रित भूमि

ने और चोरीका स्थान आत्म-निरीक्षणने ले लिया। सत्‌की संगति पा दोष भी गुण बन जाते हैं, ऐसा कहा जाता है। संभव है, यही हुआ हो। खैर, कुछ भी हो, आचार्यश्रीके बाल-जीवनमें भी प्रौढ़ता निखर उठी थी, इसमें कोई सन्देह नहीं। बालजीवनोचित लीला-लहरियोंमें गंभीरता अपना स्थान किये हुए थी। सहज भावसे बालकोंकी रुचि खेल-कूदमें अधिक होती है। पढ़नेमें जी नहीं लगता परन्तु आचार्यश्री इसके अपवाद रहे हैं।

आज विद्यालयोंमें पाठ कण्ठस्थ करनेकी प्रणाली नहीं के बराबर है। कई शिक्षाविशारद इसे अनावश्यक और विद्यार्थी भार समझते हैं। कुछ भी समझें, इस प्रणालीने भारतीय ज्ञान-राशिको अक्षुण्ण रखनेमें बड़ी मदद की है। लिखनेके साधन कम थे, अथवा प्रथा नहीं थी, उस जमानेमें जैनोंके विशाल आगम-साहित्य तथा वैदिकोंके वेद और उपनिषदोंकी सुरक्षा इसीसे हुई है। धार्मिक क्षेत्रमें आज भी इसका महत्त्व है। अगले पृष्ठोंमें आप पढ़ेंगे कि आचार्यश्री ने मुनि-जीवनमें इसका कितना विकास किया। एक राजस्थानी कहावत है—'ज्ञान कण्ठां और दाम अण्टां'। आजके विद्यार्थी पुस्तकोंके बिना एक पैर भी नहीं चल सकते, उसका इसकी उपेक्षासे कम सम्बन्ध नहीं है।

बालक चैतन्यके नवोदयकी भूमि होता है। उसमें शान्ति और क्रान्तिके मेलकी जो अपूर्व लौ जलती है, वह बुझाये नहीं बुझती। बचपनको सीधा और सरल समझा जाता है पर वह अन्तर-द्वन्द्वसे मुक्त नहीं होता। एक ओर बड़ोंकी आज्ञाका

पालन करनेका प्रश्न आता है, दूसरी ओर अपनी भावनाकी रक्षा का। वहां एक बड़ी टक्कर होती है। विनय नामकी चीज न हो त उसका हल नहीं निकल सकता। आचार्यश्रीको बचपनमें मांगनेका नाम बहुत बुरा लगता। एक जगह आप लिखते हैं:—

"पहले हमारे घरमें गायें रहती थीं। किन्तु बादमें जब ऐसा नहीं था, तब माताजी पड़ोसियोंके घरोंसे छाछ मांग लानेको मुझसे कहती। मुझे बड़ी शर्म आती। आदेश पालन करना पड़ता पर उससे मुझे दुःख होता।"

साधारणतया यह कोई खास बात नहीं है। पड़ोसियोंमें ऐसा सम्बन्ध होता है। फिर भी अपने श्रम पर निर्भर रहनेका सिद्धान्त जिसे अच्छा लगता है, उसे वैसा कार्य अच्छा नहीं लगता। आचार्यश्रीकी स्वातंत्र्य-वृत्ति और कार्य-पटुताका इससे मेल नहीं बैठता। आप ८-९ वर्षकी उम्रमें चाहते थे कि "मैं परदेश (बंगाल) जाऊं, बड़े भाइयोंका सहयोगी बनूं।" एक बार मोहनलालजी परदेशको विदा हो रहे थे। तब आपने माताजीके द्वारा उनके साथ जानेकी बहुत चेष्टा करवाई। पर वह सफल नहीं हो सकी। वे सागरमलजी (पांचवें भाई) को साथ ले जाना चाहते थे। आपने कहा—मैं उनसे भी अच्छा काम करूंगा। कारण कि आप सागरमलजीसे अपनेको अधिक होशियार समझते थे। प्रयास काफी हुआ किन्तु काम बना नहीं।

उक्त घटना एक बहुत बड़ी सामाजिक क्रांतिका गुप्त बीज है।

भारतीय सामाजिक जीवनमें मांगना और श्रमका अभाव, ये दो दोष घुसे हुए हैं। एक राष्ट्रमें ६०-७० लाख भिखमंगोंकी फौज जो हो, वह उसका सिर नीचा करनेवाली है। अगर मांगनेमें शर्म अनुभव होती हो, अपने श्रम पर भरोसा हो तो कोई कारण नहीं कि एक व्यक्ति गृहस्थीमें रहकर भीख मांगे। आचार्यश्रीने बचपनमें ही व्यापार-क्षेत्रमें जाना चाहा। किन्तु वैसा हो नहीं सका। या यों सही कि धर्म-क्षेत्रकी आवश्यकताओं ने आपको वहां जाने नहीं दिया। आप देशमें रहकर विरक्त बन जायेंगे, साधु बननेकी तैयारी कर लेंगे, यह मोहनलालजीको पता नहीं था, अन्यथा वे आपको वहां नहीं छोड़ जाते।

अकस्मात् सिराजगंज (पूर्वी बंगाल) तार पहुंचा—लाडांजी (आपकी बहिन) की दीक्षा होनेकी सम्भावना है, जल्दी आओ। मोहनलालजी तार पढ़ तुरन्त लाडनूं चले आये। स्टेशन पर पहुंचे। उन्होंने सुना - तुलसी दीक्षा लेगा। उन्होंने कहा—मुझे यह खबर होती, मैं नहीं आता। खैर, घर पर आये। घरवालों को तथा आपको भी बहुत कुछ कहा सुना। जो बात टलनेकी नहीं, उसे कौन टाले।

इससे पूर्व आपके चौथे भाई श्री चम्पालालजी स्वामी दीक्षित हो चुके थे। आप तुरन्त दीक्षा पानेको तत्पर थे। मोहनलालजी आपको दीक्षाकी स्वीकृति देनेको तैयार नहीं हुए।

तेरापन्थकी दीक्षा नियमावलीके अनुसार अभिभावकोंकी लिखित स्वीकृतिके बिना दीक्षा नहीं हो सकती। यह एक समस्या

बन गई। श्रावकोंने, साधुओंने, मन्त्री मुनिश्री मगनलालजी स्वामीने भी मोहनलालजीको समझाया। मोहकी बात है, दिल नहीं माना। वे स्वीकृति देनेको तैयार नहीं हुए। आपने देखा यह बात यों बननेकी नहीं।

लाडनूंकी विशाल परिषद्में श्रीकालूगणी व्याख्यान कर रहे थे। आप वहां गये। व्याख्यानके बीच ही खड़े होकर बोले—गुरुदेव! मुझे आजीवन व्यापारार्थ परदेश जाने और विवाह करनेका त्याग करवा दीजिए। लोगोंने देखा—यह क्या! परम श्रद्धेय गुरुदेवने देखा—बालकका कैसा साहस है। मोहनलालजी ने देखा—वह मेरा भय और संकोच कहां! विभिन्न प्रतिक्रियाएं हुईं। गुरुदेवने कहा—तू अभी बालक है। त्याग करना बहुत बड़ी बात है। आपने देखा—गुरुदेव अब मौन किये हुए हैं। सभा की दृष्टि आप पर टकटकी लगाये हुए है। आश्चर्य और प्रश्नकी धीमी आवाजें उठ रही हैं। साहसके बिना काम होगा नहीं। जो निश्चय कर लिया, वह कर लिया। डरकी क्या बात है। उत्तम कार्य है। मुझे अब अपने आत्मबलका परिचय देना है। यह सोच आप बोले—गुरुदेव! आपने मुझे त्याग नहीं करवाये किन्तु मैं आपकी साक्षीसे आजीवन व्यापारार्थ परदेश जाने और विवाह करनेका त्याग करता हूं।

गुरुदेवने सुना, लोगोंने सुना, मोहनलालजीने भी सुना। बहुतोंने मोहनलालजीको समझाया था, नहीं समझे। आपने थोड़ेमें समस्या सुलझा दी। वे आपकी दीक्षाके लिए राजी हो

गये। गुरुदेवसे प्रार्थना की। दीक्षाकी पूर्व स्वीकृति और आदेश दोनों लगभग साथ-साथ हो गये। यह एक विशेष बात है। गुरुदेवसे इतना शीघ्र दीक्षाका आदेश मिलना एक साधारण बात नहीं है। आपको वह मिला, इसका कारण आपकी असाधारण योग्यताके सिवाय और क्या हो सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं, श्री कालुगणिने उसी समय आपकी छिपी हुई महानताका अनुभव कर लिया था। आपके ज्ञाति भी इससे अपरिचित नहीं थे। हमीरमलजी कोठारी, जो आपके मामा होते हैं, आपसे बड़ा प्यार करते। वे आपको तुलसीदासजी कहकर सम्बोधित करते और कहते—हमारे तुलसीदासजी बड़े नामी होंगे।

प्रकाश प्रकाशमेंसे नहीं निकलता। वह आवरणमेंसे निकलता है। आवरण केवल ढाँकना नहीं जानता, हटना भी जानता है। वह अन्धोंको ही दृष्टि नहीं देता, दृष्टिवालोंको भी दृष्टि देता है।

आपका विशाल व्यक्तित्व बचपनके आवरणमें छिपा हुआ था। फिर भी कृतज्ञताके साथ हमें कहना चाहिए कि उसने आपको पहचाननेकी दृष्टि दी।

मुनि जीवन

जीवनका दूसरा दौर

दूसरा अध्याय शुरू होते होते आप द्विजन्मा बन जाते हैं। गृहस्थ-जीवनकी समाप्ति और मुनि-जीवनकी दीक्षा, दोनों एक साथ होते हैं। हजारों लोगोंके देखते देखते आप अपनी बहिन को साथ लिए वैरागीकी पोशाकमें दीक्षा-मण्डपमें आये, कालु-गणीको वन्दना की, पासके कमरेमें गये। वेषभूषा बदली। साधु का पुण्य वेष धारण किया। वापिस आये। दोनों हाथ जोड़ गुरुदेवके सामने खड़े हो गये। दीक्षा देनेकी प्रार्थनाकी। मोहन-लालजी अपने बन्धुओं के साथ आगे आये। माता वदनांजी आईं। गुरुदेवसे 'श्री तुलसी' को 'लाडां' को दीक्षित करनेकी प्रार्थना की।

गुरुदेवने उनकी स्वीकृति पा दीक्षाका मन्त्र पढ़ा। आजीवन

के लिए समस्त पापकारी प्रवृत्तियोंका—हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रहका त्याग कराया। आपने वह स्वीकार किया। गृहस्थ-जीवनसे तांता टूट गया। मुनि-संघमें मिल गये। वह पुण्य दिन था (वि० सं० १९८२, पौष कृष्णा ५), वह पुण्य-वेला थी आपके भविष्य और संघके सौभाग्य-निर्माण की। सब प्रसन्न हुए। कालुगणी, मगनलालजी स्वामी और चम्पालालजी स्वामी अधिक प्रसन्न हुए। क्यों हुए, उसमें रहस्य है।

तेरापन्थके आचार्य अपने यथेष्ट उत्तराधिकारीको पाये बिना पूरे निश्चिन्त नहीं बनते। कालुगणी इस बातकी खोजमें थे। उन्होंने आपको पाकर सन्तुष्टिका अनुभव किया। आपकी दीक्षा उनकी खोजको पूर्ण सफलता थी।

मगनलालजी स्वामी बचपनसे ही कालुगणीके साथी और अभिन्नहृदय रहे। कालुगणीकी इच्छा-पूर्ति ही उनकी इच्छा-पूर्ति थी। इसके सिवाय आपकी दीक्षाके प्रेरक भी रहे। अपनी प्रेरणाकी सफलतामें अधिक खुशी हो, यह स्वाभाविक ही है।

चम्पालालजी स्वामी एक तो आपके भाई ठहरे, वह भी दीक्षित। दूसरे उन्होंने आपको दीक्षा-भावनासे दीक्षा होने तक बड़ा श्लाघनीय प्रयत्न किया। आप उनके इस प्रयत्नको अपने प्रति महान् उपकार मानते हैं। सम्भव है, उनके प्रयत्नमें कुछ शैथिल्य होता तो इतना शीघ्र दीक्षा-कार्य सम्पन्न न होता। इस लिए वे भी अपनी विशेष प्रसन्नताके अधिकारी हैं।

मैं मूलसे दूर चला गया। मैंने आपकी स्थितिको छुआ तक

नहीं। औरोंकी सम्मिलित खुशीसे आपका पलड़ा भारी था। उस दिन आपकी कल्पना साकार बनी थी, आपके सपने पूरे हुए थे। आपने एक जगह अपनी पूर्व कल्पनाका जो चित्र खींचा है, उससे मैं पाठकोंको वंचित नहीं रखूंगा :—

"मैं बचपनमें माताजीको पूछता ही रहता—पूज्यजी महाराज कहां हैं ? अपने यहां कब आयेंगे ? जब कभी पधारते, सचमुच उनकी वह दिव्य-मूर्ति मेरे बाल-हृदयको खींचती रहती। मैं उनके सामने देखता ही रहता। उनका वह कोमल शरीर, गौर वर्ण, दीर्घ संस्थान, सिर पर थोड़ेसे सफेद बाल, चमकती आंखें मैं देखता, तब सोचता– क्या ही अच्छा हो, मैं छोटा सा साधु बन हर वक्त उपासनामें बैठा रहूं।"

मनुष्य संकल्पका पुतला होता है। दृढ़ संकल्पसे एक न एक दिन असाध्य मालूम होनेवाली चीज भी साध्य बन जाती है। आदमीमें धैर्य टिकता नहीं। वह अपने संकल्पको बनाए नहीं रख सकता। थोड़ी सी कठिनाईसे डिग जाता है। इसलिए वह लक्ष्य तक पहुंचनेमें सफल नहीं होता। दृढ़ताके साथ होने वाले सतत मानसिक संकल्पका अपने पर और आसपासके वातावरण पर पूर्ण प्रभाव पड़ता है। आपकी दीक्षा होनेमें आपके पूर्व संकल्पने पूरा हाथ बटाया, यह हमें निर्विवाद स्वीकार करना चाहिए।

विरक्तिके निमित्त

कालुगणीके व्यक्तित्वका महान् आकर्षण आपकी संसार विरक्तिका सबसे प्रमुख निमित्त बना। आपकी जन्मभूमि तेरापन्थका एक केन्द्र है। विशेषतः आप जिस पट्टीमें रहते, वह धर्म-पट्टीके नामसे प्रसिद्ध है। जन्मगत धार्मिक वातावरण, माताकी दृढ़ धर्म-श्रद्धा और साधु-साध्वियोंका बहु सम्पर्क, ये सभी बातें उसका पल्लवन करनेवाली हैं। चम्पालालजी स्वामी की सत्प्रेरणाएं भी अपना स्थान रखती हैं। सबसे बड़ी बात संस्कारिता है।

हमें यह मानना पड़ता है कि व्यक्तिके संस्कार ही साधन सामग्री पा उद्बुद्ध होते हैं और उसी दशामें व्यक्तिके कार्य-क्षेत्र का चुनाव होता है।

मोहनलालजी स्वभावतः कुछ विनोद-प्रिय हैं। दीक्षाको पूर्व-रात्रिमें वे आपके पास आये और मीठी मुस्कानमें बोले— लो यह लो। आपने कहा—क्या देते हैं भाईजी! उन्होंने कहा—देखो यह सौ रुपयेका नोट है। कल तुम दीक्षा लोगे। इसे साथ लिए जाना। साधु-जीवन बड़ा कठोर है। कहीं रोटी-पानी न मिले तो इससे काम ले लेना। मोहनलालजीके इस विनोदपूर्ण व्यंग्यसे वातावरण हँसी से महक उठा। आपने हँसते हुए कहा—भाईजी! यह क्या कह रहे हैं? इनका साधु-जीवनसे क्या मेल? आप जानते हैं—साधुको यह रखना नहीं कल्पता। भाई-भाईके हास्यपूर्ण संवाद से आस-पासमें सोनेवाले जाग उठे। आपकी बहिन लाडांजीने पूछा—क्या बात है? इतनी हँसी किस बात की? तुलसीकी परीक्षा हो रही है— मोहनलालजीने कहा।

कसौटी पर

दीक्षाके तत्काल बाद ही आप कालूगणीके सर्वाधिक कृपा-पात्र बन गये। मैं कुछ और आगे बढ़ूं तो मुझे यों कहना चाहिए कि कालूगणीकी आपके प्रति परिचयके पहिले क्षणोंमें जो दृष्टि पहुंची, वह अब साकार बन दूसरोंके सामने आई। एक बार मन्त्री मुनि मगनलालजी स्वामीने बताया कि आपके विरक्ति कालमें ही कालूगणीका ध्यान आपकी ओर झुक गया था। आपके पतले-दुबले कोमल शरीरकी स्फूर्ति और विशाल एवं चमत्कार आंखोंका आकर्षण अपना उज्ज्वल भविष्य छिपाये नहीं रख सका।

तेरापन्थ संघमें शिष्यके लिए आचार्यके वात्सल्यका वही स्थान है, जो प्राणीके जीवनमें श्वास का। आपने कालूगणीका जो वात्सल्य प या, वह असाधारण था। आचार्यके प्रति शिष्य का आकर्षण हो, यह विशेष बात नहीं; किन्तु शिष्यके प्रति आचार्यका सहज आकर्षण होना विशेष बात है। उसमें भी कालूगणी जैसे गंभीरचेता महापुरुषका हृदय पा लेना अधिक आश्चर्यकी बात है। जिन्हें अपनी श्रीवृद्धिमें बहिर्जगत्का प्रत्यक्ष सहयोग नहीं मिला, अपनी कायंजा शक्ति, कठोर श्रम और दृढ़ निश्चयके द्वारा ही जो विकसित बने, वे कालूगणी अनायास ही ११ वर्षके नन्हे शिष्यको अपना हृदय सौंप दे, इसे समझनेमें कठिनाई है किन्तु सौंपा, इसमें कोई शक नहीं।

जैन-साधुओंको आचार और विचार ये दोनों परम्पराएं समान रूपसे मान्य रही हैं। विचारशून्य आचार और आचार-शून्य विचार पूर्णताकी ओर ले जानेवाले नहीं होते। दीक्षा होने के साथ-साथ आपका अध्ययनक्रम शुरू हो गया। उसकी देख-रेख कालूगणीने अपने हाथमें ही रखी। एक ओर जहां चरम सीमाका वात्सल्य भाव था, दूसरी ओर नियन्त्रण और अनुशा-सन भी कम नहीं था। साधु-संघका सामूहिक अनुशासन होता है, वह तो था ही। उसके अतिरिक्त व्यक्तिगत नियन्त्रण और अनुशासन जितना आप पर रहा, शायद ही उतना किसी दूसरे पर रहा हो। चाहे आप यों समझ लें—वह जितना आपने सहन किया, उतना शायद ही कोई दूसरा सहन कर सकता है।

अथवा कालुगणीने उसकी जितनी आवश्यकता आप पर समझी शायद किसी दूसरे पर उतनी न समझी हो। कुछ भी हो, आपकी उस तितिक्षाने अवश्य ही आपको आगे बढ़ाया—बहुत आगे बढ़ाया, हम न उलझें तो यह सही है।

वात्सल्य और अनुशासन इन दोनोंके समन्वयसे तितिक्षाके भाव पैदा होते हैं और उनसे जीवन विकासशील बनता है। कोरे वात्सल्यसे उच्छृङ्खलता और कोरे नियन्त्रसे प्रतिकारके भाव बनते हैं, यह एक सीधी-सादी बात है।

आप अपनी अनुशासन करनेकी आदत पर ही नहीं रहे, उसका पालन करनेकी भी आदत बना ली। यह उचित था। स्वयं अनुशासनको न पाले, उसे पलवानेकी भी आशा नहीं रखनी चाहिये।

आपकी दैनिक चर्या पर चम्पालालजी स्वामी निगरानी रखते थे। यह आवश्यक था या नहीं, इस पर हमें विचार नहीं करना है। उनमें अपने बन्धुके जीवन-विकासकी ममता थी, उत्तरदायित्वकी अनुभूति थी, यह देखना है। आप उनका बहुत सम्मान रखते। उनकी इच्छाका भी अतिक्रमण नहीं करते।

अध्ययनमें संलग्न रहना, गुरु-उपासना करना, स्मरण करना, कम बोलना, अपने स्थान पर बैठे रहना, अनावश्यक भ्रमण न करना, हास्य-कुतूहल न करना—ये आपकी प्रकृतिगत प्रवृत्तियां थी।

कालुगणीने आपको सामुदायिक कार्य-विभाग (जो सब

साधुओंको बारीसे करने होते हैं) से मुक्त रखा। उनके बहुमुखी अनुग्रहसे समूचे संघका ध्यान आपकी ओर खिंच गया। आप लोगोंके लिए कल्पनाओंके केन्द्र बन गये, बड़े-बड़े साधु भी आपके प्रभावकी स्थितिको स्वीकार करते थे।

अध्यापन

आपने दीक्षाके दो वर्ष बाद साधुओंको पढ़ाना शुरू किया। आपको केवल प्रतिभानेही अध्यापक नहीं बनाया, दूसरोंको अपनानेकी वृत्तिने इसमें पूरा सहयोग किया। आप अपने मूल्यवान् समयका बहुलांश दूसरोंको देते, सिर्फ पढ़ानेके लिए ही नहीं, कुछ बनानेके लिए भी। अपने विद्यार्थी-साधुओंकी सार-संभाल करना, कार्यकुशल बनाना, आचार-विचारकी निगाह रखना, रहन-सहन खान-पानका ध्यान रखना, उनके निजी कार्योंकी चिन्ता करना, अनुशासन बनाये रखना—ये सब आपकी अध्यापन-क्रियाके अङ्ग थे। आप कहीं बँधे या नहीं बँधे, पता नहीं, बाँधनेमें बड़े दक्ष थे। मुनिश्री चम्पालालजी कई बार कहते—तू इतना समय दूसरोंके लिए लगाता है, अपनी

चेष्टा नहीं करता। तब आप कहते—दूसरे कौन ? यह अपना ही काम है। आपकी उदारतासे प्रभावित हो थोड़े वर्षोंमें आपके लगभग १६ स्थायी विद्यार्थी बन गये।

प्रसंगवश कुछ अपनी बात कहदूं। इन विद्यार्थियोंमें एक मैं भी था। यह हमारा निजी अनुभव है, हमपर जितना अनुशासन आपकी भौंहोंका था, उतना आपकी वाणीका नहीं था। आप हमें कमसेकम उलाहना देते थे। आपकी संयत प्रवृत्तियां ही हमें संयत रखनेके लिए काफी थीं। आपमें शिक्षाके प्रति अनुराग पैदा करनेकी अपूर्व क्षमता थी। आप कभी-कभी हमें बड़ी मृदु बातें कहते :—

"अगर तुम ठीकसे नहीं पढ़ोगे तो तुम्हारा जीवन कैसे बनेगा, मुझे इसकी बड़ी चिन्ता है। तुम्हारा यह समय बातोंका नहीं है। अभी तुम ध्यानसे पढ़ो, फिर आगे चल खूब बातें करना। यह थोड़े समयकी परतन्त्रता तुम्हें आजीवन स्वतन्त्र बना देगी। आज अगर तुम स्वतन्त्र रहना चाहोगे तो सही अर्थ में जीवन भर स्वतन्त्र नहीं बनोगे। मेरा कहनेका फर्ज है, फिर जैसी तुम्हारी इच्छा...... । इसमें जबर्दस्तीका काम है नहीं, आदि आदि।"

विद्यार्थियोंमें उत्साह भरना आपके लिए सहज था। हमने नाममाला कण्ठस्थ करनी शुरू की। बड़ी मुश्किलसे दो श्लोक कण्ठस्थ करपाते। नीरस पदोंमें जी नहीं लगता। हमारा उत्साह बढ़ानेके लिए आप आधा-आधा घण्टा तक हमारे साथ उसके

श्लोक रटते, उनका अर्थ बताते। थोड़े दिनों बाद हम एक-एक दिनमें छत्तीस-छत्तीस श्लोक कण्ठस्थ करने लग गये। और क्या, बात-बातमें आप स्वयं कठिनाइयां सह हमारी सुविधाओंका ख्याल करते।

कारलाइलने लिखा है :—

"किसी महापुरुषकी महानताका पता लगाना हो तो यह देखना चाहिए कि वह अपनेसे छोटोंके साथ कैसा बर्ताव करता है।"

आपका मुनि-जीवन निःसन्देह एक असाधारण महानता लिये हुए था।

स्व-शिक्षा

आपने मुनि-जीवनके ११ वर्षोंमें लगभग २० हजार श्लोक कण्ठस्थ कर पौराणिक कण्ठस्थ परम्परामें नई चेतना ला दी। वह एक युग था जबकि जैनके आचार्य और साधु-सन्त विशाल ज्ञान-राशिको कण्ठात् कण्ठ सञ्चारित करते थे। किन्तु इस बदले वातावरणमें २० हजार श्लोक याद करना आश्चर्यपूर्ण बात है। आपके कण्ठस्थ ग्रन्थोंमें मुख्य ग्रन्थ व्याकरण, साहित्य, दर्शन और आगमविषयक थे। आपने मातृ-भाषाके अतिरिक्त संस्कृत-प्राकृतका अधिकारपूर्ण अध्ययन किया।

आपकी शिक्षाके प्रवर्तक स्वयं आचार्य श्री कालुगणी रहे। उनके अतिरिक्त आयुर्वेदाचार्य आशुकविरत्न पं० रघुनन्दनजीका भी सुन्दर सहयोग रहा। इनके जीवनका बहुल भाग पूर्वाचार्य

श्री कालूगणी तथा आचार्यश्री के निकट-सम्पर्कमें बीता है। ये मुनिश्री चौथमलजी द्वारा रचित भिक्षुशब्दानुशासन की बृहद् वृत्तिके लेखक हैं। 'प्राकृत-काश्मीर' इनकी छोटी किन्तु सुन्दरतम रचना है। ये प्रकृतिके साधु हैं। इन्होंने निरवद्य विद्यादानके रूपमें तेरापन्थ गणको अमूल्य सेवायें की हैं और कर रहे हैं।

सोलह वर्षकी अवस्थामें आप कवि बने। पट्टोत्सव, मर्यादोत्सव आदि विशेष अवसरों पर आपकी कविता लोग बड़े चावसे सुनते। आपने १८ वर्षकी उम्रमें 'कल्याण-मन्दिर' की समस्या-पूर्तिके रूपमें 'कालु-कल्याण-मन्दिर' नामक एक स्तोत्र रचा। आपका स्वर बड़ा मधुर था। आप उपदेश देते, व्याख्यान करते, गाते, तब लोग मुग्ध बनजाते। बहुधा ऐसा भी होता कि आप गीतिका गाते और कालुगणि उसकी व्याख्या करते। आप कई बार कहा करते हैं कि "मैं ज्यों-ज्यों अवस्थामें बड़ा होता गया, त्यों-त्यों मोटे स्वरमें गाने और बोलनेकी चेष्टा करने लग गया। कारणकि ऐसा किये बिना प्रायः अवस्था-परिवर्तनके साथ-साथ (१६ वर्षके बाद) एकाएक कण्ठ बेसुरे बन जाते हैं।"

आप सदा कालूगणीके साथमें रहे। सिर्फ एक बार शारीरिक अस्वास्थ्यके कारण कुछ महीनोंके लिए आपको अलग रहना पड़ा। गुरु-सेवाकी सतत प्रवृत्तिके कारण आपको वह बहुत असह्य लगा। कालूगणी स्वयं आपको अलग रखना नहीं चाहते

थे। मर्यादोत्सवके दिनोंमें साधु-साध्वी-वर्गकी सारणा-वारणाके समय आचार्यवर सिर्फ आपकी ही सेवाएं लेते थे। शिक्षाके क्षेत्रमें भी आपकी प्रवृत्तियोंसे आचार्यवर पूर्ण प्रसन्न थे। आखिरी वर्षोंमें वे इस चिन्तासे सर्वथा मुक्त रहे।

दिनचर्या

प्रातः चार बजे जागना और रातको दश बजे सोना, इसके बीच साधु-चर्याका पालन करना, अतिरिक्त समयमें अध्ययन, स्वाध्याय, स्मरण आदि करना; संक्षेपमें आपकी यह दिनचर्या रहती। आप घण्टों तक खड़े-खड़े स्वाध्याय करते। आपने कई बार रातके पहले पहरमें तीन-तीन हजार श्लोकोंका स्मरण—पुनरावर्तन किया। आप समयको बिल्कुल निकम्मा नहीं गमाते। मार्गमें चलते-चलते कहीं दो मिनट भी रुकना होता, वहीं स्मरण करने लग जाते। यह अध्यवसाय आपके लिए साधारण था। 'एक क्षण भी प्रमाद मत कर' भगवान् महावीरके इस वाक्यको आपने अपना जीवन-सूत्र बना रखा था।

मधुर संवाद

सूर्य अस्त हो गया था। एक आवाज आई। सब साधु इकट्ठे होगये। गुरुको वन्दना की। प्रतिक्रमण—दैनिक आत्मालोचन शुरू हुआ। मुहूर्त्त भर वही चला। फिर साधु उठे। गुरुके समीप आये। नम्र हो गुरुवन्दना की। अपने अपने स्थान चले गये। थोड़ी देर बाद कालुगणीने आपको आमन्त्रण दिया। आप आगे आये। आचार्यवरने एक सोरठा कहा—

"सीखो विद्यासार, *परहो कर प्रमाद नैं।
वधसी बहु विस्तार, धार सीख धीरज मनैं॥"

और कहा कि यह सोरठा सबको सीखा देना। आपने

---

* दूर।

आचार्यवरकी आज्ञा शिरोधार्य की। रातका आदेश (पहर रात आनेके बाद सोनेकी जो आज्ञा होती है) हुआ। साधु सो गये। चार बजे फिर जागरण हुआ। सूर्योदयमें एक मुहूर्त्त बाकी रहा। एक आवाज आई। सब साधु फिर आचार्यवरको प्रातःकालिक वन्दना करने एकत्रित हो गए। वन्दना हुई। रात्रिक आलोचन हुआ। सूर्य उगते-उगते साधु अपने दैनिक कार्यक्रममें लग गये। आपने आचार्यवरके आदेशानुसार वह सोरठा साधुओंको कण्ठस्थ करा दिया।

समयकी गति अबाध है। दिन पूरा हुआ, रात आई। जो कल हुआ, वह आज भी हुआ। आप आचार्यवरको वन्दना कर मन्त्री मुनि मगनलालजी स्वामीको वन्दना करने गये। उन्होंने आपसे कहा—आचार्यवरने जो तुझे सोरठा फरमाया, उसके उत्तरमें तूने कुछ किया क्या ? आपने सकुचाते हुए कहा—नहीं। मन्त्री मुनिका संकेत पा आपने एक सोरठा रच आचार्यवरको निवेदन किया :—

"महर रखो महाराय, लख चाकर पदकमलनो।
सीख अपो सुखदाय, जिम जलदी शिव गति लहूं ॥"

यह काव्यमय गुरु-शिष्य-सम्वाद भावी गति-विधिका संकेत था। अगर आप साधु-संघकी दृष्टिमें होनहार न होते तो यह सम्वाद अवश्य एक नई धारणा पैदा करता। वैसी स्थिति पहले बनी हुई थी। इसलिए यह उसका पोषकमात्र बना।

विकासकी दिशामें

कालूगणीके अन्तिम तीन वर्ष जीवनके यशस्वी वर्षोंमेंसे थे। उनमें आचार्यवरने क्रमशः मारवाड़, मेवाड़ और मध्यभारतकी यात्रा की। उससे आपको भी अनुभव बढ़ानेका अच्छा मौका मिला। इससे पूर्व आपकी दीक्षाके बाद आचार्यवर सिर्फ बीकानेर स्टेटमें ही रहे। वहाँ भी आप जन-सम्पर्कमें बहुत कम आये। केवल अध्ययन-अध्यापनमें रहे। यात्राकालमें आपने कुछ समय जन-सम्पर्कमें लगाना शुरू किया। रातके समय बहुलतया व्याख्यान भी आप देने लगे। ये तीन वर्ष आपके लिए व्यावहारिक शिक्षाके थे। कालूगणीने आपको कुछ बनाने का निश्चय किया। उसके पीछे बड़े बलवान् यत्न रहे। आपके

विकासके प्रति आचार्यवरकी सजगताकी एक छोटी सी किन्तु बहु मूल्यवान् घटना मैं पाठकोंके समक्ष रखूंगा।

जैन-मुनि पाद-विहार करते हैं, यह बतानेकी जरूरत नहीं। आचार्यवर मध्यभारतकी यात्रामें थे, तबकी बात है। आप विहारके समय आचार्यवरके साथ साथ चलते। वृद्ध-अवस्था के कारण आचार्यवर धीमी गतिसे चलते। समय अधिक लगता, इसलिए आचार्यवरने एक दिन कहा—"तुलसी! तू आगे चला जाया कर, वहां जा सीखा कर।" आपने साथ रहनेका नम्र अनुरोध किया, फिर भी आचार्यवरने वह माना नहीं। इसे हम साधारण घटना नहीं कह सकते। आपके २०-२५ मिनट या आध घण्टेका उनकी दृष्टिमें कितना मूल्य था, इसका अनुमान लगाइये।

आपने कालुगणीको जितनी त्वरासे अपनी ओर आकृष्ट किया, उसका सूक्ष्म विश्लेषण करना दूसरे व्यक्तिके लिए सम्भव नहीं है। वे स्वयं इसकी चर्चा करते तो कुछ पता चलता। खेद है कि वैसी सामग्री उपलब्ध नहीं हो रही है। ऐसा सुना जाता है कि आपके प्रति कालुगणीकी जो कृपा दृष्टि थी, वह संस्कार-जन्य थी। यह ठीक है, फिर भी कारण खोजनेवालेको इतने मात्रसे सन्तोष नहीं होता। वह कार्य-कारणके तथ्योंको ढूंढ़ निकाले बिना विश्राम नहीं ले सकता।

तेरापंथके एकाधिनायक आचार्यमें अनुशासनकी क्षमता होना सबसे पहली विशेषता है। एक शृङ्खला, समान आचार-

विचार और व्यवहारमें चलनेकी नीति वरतनेवाले संघमें योग्यताके साथ अनुशासन बनाये रखना बड़ी दक्षताका काम है। सैकड़ों साधु-साध्वियों और लाखों श्रावक-श्राविकाओंका एकाधिकार पूर्ण सफल नेतृत्व करना एक उल्लेखनीय बात है। हमें आचार्यश्री भिक्षुकी सूझ पर, उनके कर्तृत्व पर सात्विक अभिमान है। उनके हाथोंसे बना हुआ संगठन एकताका प्रतीक है, बेजोड़ है। जहां संघ होता है, वहां शासन भी होता है। शासनका अर्थ है—सारणा और वारणा, प्रोत्साहन और निषेध उलाहना और प्रशंसा। इन दोनों प्रकारकी स्थितियोंमें उनकी मनोभावनाओंको समानस्तरीय रखना, यही संघपतिके कार्यकी सफलता है।

दूसरी विशेषता है आचार-कौशल। विचारकी अपेक्षा आचार का अधिक महत्त्व है। आचारहीन व्यक्तिके विचार अधिक मूल्य नहीं रखते। श्रीमद् जयाचार्यने लिखा है कि एक नौलीमें सौ रुपये होते हैं, उनमें ९९ रुपयोंके बराबर आचार है और ज्ञान एक रुपयेके समान है। हमारी परम्परामें आचारकुशलका कितना महत्त्व है, यह निम्नलिखित एक धारणासे स्पष्ट हो जाता है।

मानो, एक आचार्यके सामने दो शिष्य हैं—एक अधिक आचारवान् और दूसरा अधिक पण्डित। आचार्यको अपना पद किसे सौंपना चाहिए? हमारी परम्परा बताती है, पहलेको—आचार कुशल को। आचार्य शब्दकी उत्पत्ति भी आचार-कुशलता से हुई है—"आचारे साधुः आचार्यः"।

क्या मैं नहीं भूलरहा हूं ? क्या आचार-कौशलको दूसरा स्थान देकर मैंने कोई गलती नहीं की है ? नहीं। अनुशासनको पहला स्थान इसकी पुष्टिके लिए ही दिया गया है। एक साधुको आचार-कुशल होना चाहिए, यह पर्याप्त हो सकता है किन्तु आचार्यके लिए यह पर्याप्त नहीं होता। उनके साथ एक सूत्र और जुड़ता है, जैसे—स्वयं आचार कुशल रहना और दूसरे साधु-साध्वियां आचार कुशल रहें, वैसी स्थिति बनाये रखना। उस स्थितिका नाम है अनुशासन। इसलिए आचार्यके प्रसंगमें आचार-कौशलसे पहले अनुशासनको स्थान मिले, यह कोई अनहोनी बात नहीं है। अनुशासनकी योग्यता रखनेवाला आचार-कौशल ही एक मुनिको आचार्य-पद तक पहुंचा सकता है।

तीसरी विशेषता संघ-हितैषिता और चौथी है विद्या।

कालुगणीने आपको पहली बार देखा, तब आपके प्रति उनका एक सहज आकर्पण बना, उसे हम संस्कार मान सकते हैं। किन्तु बादमें उनकी आपको उत्तराधिकारी बनानेकी धारणा पुष्ट होती गई, वह आपकी योग्यताका ही परिणाम है। आपके मुनि-जीवनमें उक्त चारों विशेषताएं किस रूपमें विकसित हुईं, इससे पाठक अपरिचित नहीं रह रहे हैं।

आचार्य-जीवन

संघका नेतृत्व

६३ की भाद्र शुक्ला नवमीका सूर्योदय हुआ। गंगापुरकी सँकरी गलियोंमेंसे आ आ हजारों आदमी एक विशाल चौकमें जमा हो रहे थे। सबके चेहरेपर खुशी झलक रही थी। उनके मनोभाव खिन्नताके बाद प्रसन्नताका आलिङ्गन करते जैसे लगरहे थे। देखते-देखते चौक खचाखच भर गया। सबकी आंखें प्रतीक्षामें अधीर हो रही थीं। दो-चार साधु आये। चौकके दायें ओरकी चोकी पर एक बड़ा पाट बिछाया। उस पर श्वेत वस्त्रसे बने आसनकी आभा निराली थी। मृदु-गंभीर जयघोषने प्रतीक्षाका बन्धन तोड़ा। मंझला कद, गौर वर्ण, सुन्दर आकार, पतला शरीर, गहरे बाल, विशाल भौंहें, कपोलको स्पर्श करती लम्बी और चमकदार आंखें, गम्भीर मुद्रा, सफेद वस्त्र धारण किये

श्री तुलसी आचार्य-पदका अभिषेक पाने आ रहे हैं। साधुओं की मण्डली साथ है। जनताने जाना। बड़ी तत्परताके साथ सब साथके साथ उठे। अपने उदीयमान धर्म-अधिनायकका अभिनन्दन किया।

आप पाट पर विराज गये। आपके एक ओर साधु, दूसरे ओर साध्वियाँ बैठ गईं। सामने अपार जन-समुदाय था।

परम श्रद्धेय श्री कालुगणीके स्वर्गवासके बाद यह पहला समारोह था।

सबसे पहले मङ्गलाचरणमें नमस्कार-महामन्त्रका पाठ हुआ। उसके बाद मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामीने आपको नई पछेवड़ी धारण कराई। यह था आपका पट्टाभिषेक। समूचे संघने संघ-गान 'जय जय नन्दा' गा आपका अभिनन्दन किया। विद्वान् साधु-साध्वी तथा श्रावकवर्गने कविताएं पढ़ीं। आपने एक संक्षिप्त प्रवचन किया। कालुगणीकी अविस्मृत स्मृति कराते हुए उनके महान् व्यक्तित्व पर कुछ बातें कहीं। उत्सवके उपलक्ष्यमें साधु-साध्वियोंको गाथाएँ[1] बख्शीश कीं। समारोह सम्पन्न हो गया।

वह दिन लाखों व्यक्तियोंके लिए अचरजका दिन था। उन्होंने देखा—तेरापन्थके एकतन्त्रीय धर्म-शासनका भार एक २२ वर्षीय युवकने सम्हाला है। किसने जाना कि इसकी रश्मियों में विश्वको आलोकित करनेकी शक्ति है, यह कोई सन्देश लेकर

---

१ लिपि-विकास तथा पारस्परिक कार्य व्यवहारकी व्यवस्थाकी एक साधन-प्रणाली।

आया है। आगे कुछ भी हो, वह दिन कल्पनाओंका दिन था। या यों कहूं कि उस दिन कालूगणीके मनुष्यके पारखी होनेकी बात कसौटी पर आई थी। जैन-इतिहासमें इतनी कम उम्रमें आचार्य-पद पानेके आचार्य हेमचन्द्र आदिके एक दो उदाहरण मिलते हैं। इसलिए लोगोंके आश्चर्यको अतिरंजित नहीं कहा जा सकता।

आपने जब शासनका कार्य-भार सम्हाला, उस समय भिक्षु-संघमें १३६ साधु और ३३३ साध्वियां थीं। उनमें ७६ साधु आपसे दीक्षा-पर्यायमें बड़े थे। लाखों श्रावक थे।

आपका व्यक्तित्व समझिये, संघका सौभाग्य समझिये, कालूगणीका प्रभाव या संघ-मर्यादाका महत्त्व समझिये, कुछ भी समझिये; आपके नेतृत्वका समूचे संघने जिस हर्षके साथ अभि-नन्दन किया, वह जड़ लेखनीका विषय नहीं बन सकता।

नवमीके मध्याह्नमें आपने साधु-साध्वियोंको आमन्त्रित कर अपनी नीतिके बारेमें एक वक्तव्य दिया। वह यों है :—

"श्रद्धेय आचार्यप्रवर श्री कालूगणीका स्वर्गवास हो गया, इसमें मैं स्वयं खिन्न हूं, साधु-साध्वियां भी खिन्न हैं। मृत्यु एक अवश्यंभावी घटना है। इसे किसी प्रकार टाला नहीं जा सकता। खिन्न होनेसे क्या बने। इसलिए सभी साधु-साध्वियोंसे मेरा यह कहना है कि सब इस बातको विस्मृतसी बना दें। इसके सिवाय चित्तको स्थिर करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है।

अपना शासन नीतिप्रधान शासन है। इसके सभी साधु-

साध्वियां नीतिवान् हैं। रीति-मर्यादाके अनुसार चलनेपर सदा आनन्द है। किसीको कोई विचार करनेकी जरूरत नहीं। श्रद्धेय गुरुदेवने मुझे शासनका कार्य-भार सौंपा है। मेरे नन्हें कन्धों पर उन्होंने अगाध विश्वास किया, इसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूं। मेरे साधु-साध्वियां बड़े विनीत, अनुशासित और इङ्गितको समझनेवाले हैं। इसलिए मुझे इस गुरुतर भारको वहन करनेमें तनिक भी संकोच नहीं हुआ और न हो रहा है।

मैं पुनः वही बात याद दिलाता हूं कि सब साधु-साध्वियां अपने शासनकी नियमावलीका हृदयसे पालन करें। मैं पूर्वाचार्य श्री की तरह सबकी अधिकसे अधिक सहायता करता रहूंगा, ऐसा मेरा दृढ़ संकल्प है। जो मर्यादाकी उपेक्षा करेंगे, उन्हें मैं सहन नहीं करूंगा। इसलिए मैं सबको सावधान किये देता हूं।

सब भिक्षु-शासनमें फले-फूले रहें। यह सबका शासन है। सब संयम पर दृढ़ रहें। इसीमें सबका कल्याण है, शासनकी उन्नति है। मैं आशा करता हूं, यह मेरा पहला वक्तव्य साधु-साध्वियोंके अन्तःकरणमें रमता रहेगा।"

इसका साधु-संघ पर जादूका सा असर हुआ। अवस्था और योग्यतामें गठबन्धन नहीं है. इसकी सच्चाईमें कोई सन्देह नहीं रहा।

आपके पट्टासीन होनेपर साधु-समाजको कोई विशेष आश्चर्य नहीं हुआ। कारणकि उसके लिए यह अज्ञात विषय नहीं था जो भावना मनतक थी, वह बाहर आगई; बस सिर्फ इतना-सा हुआ।

भाद्र कृष्णा अमावस्याकी बात है, श्रीकालुगणीने आपको एकान्तमें आमन्त्रित किया। आप उस बार करीब १।। घण्टा तक गुरुदेवकी सेवामें रहे। गुरुदेवने शासनसम्बन्धी रहस्य कुछ लिखाये, कुछ मौखिक बताये। अपने उत्तराधिकारीके रूपमें उनका आपसे मन्त्रणा करनेका यह पहला अवसर था। कालुगणी ऐसा करना नहीं चाहते थे। उनकी हार्दिक इच्छा कुछ और थी। वे अपनी तपोमूर्त्ति संसारपक्षीय माता श्री छोगांजीके समक्ष बीदासरमें आपको युवाचार्य-पद देना चाहते थे। किन्तु ऐसा हो नहीं सका। उनके जीवनका यही एक ऐसा मनोभाव है, जो अधूरा रहा।

मध्यभारतकी सफल यात्रासे लौटते समय चित्तौड़में उनके बाएँ हाथकी तर्जनीमें एक छोटा-सा व्रण निकला। वह धीमे-धीमे चलते-चलते भीषण बनगया। बहुत उपचार हुए। फल नहीं निकला। अखिर उन्हें अपनी अन्तिम स्थितिका निश्चय हो गया। तब उन्हें अपनी पुरानी धारणा बदलनी पड़ी। उसीका परिणाम अमावस्याके दिन सबके सामने आया।

भादवाके सुदी २ के दिनतक गुरुदेवकी प्रौढ कल्पनाओंसे आप लाभान्वित होते रहे। साधु-साध्वियोंको शिक्षाके अवसर पर गुरुदेवके द्वारा साधारण संकेत मिलते रहे। जैसे—"समय पर आचार्य अवस्थामें छोटे हों, बड़े हों, फिर भी सबको समान रूप से प्रसन्न रहना चाहिए। गुरु जो कुछ करते हैं, वह शासनके हितोंको ध्यानमें रखकर ही करते हैं।"

इसके सिवाय स्पष्टरूपमें उन्होंने कभी कुछ नहीं कहा।

सूर्यकी किरणें उल्लास लिये आईं। तीजका पुण्य प्रभात हुआ। आकाश और भूमि दोनों रूपवान् बनगये। जो छिपनेवाला नहीं, वह छिप नहीं सकता। वह चमकेगा, अपनेआप उसका रूप निखरेगा। उसके प्रति दूसरे उदार हों, इसमें शोभा है। इससे ऋण-उऋणताके भाव बनते हैं, उपकार्य-उपकारक का सम्बन्ध जुड़ता है, द्वैतसे अद्वैत बनता है, श्रद्धा और पूजाकी भूमि तैयार होती है।

कालूगणीकी कृपाका दूसरा प्रवाह नया रूप लिए बहने चला है। लोगोंकी कल्पनाएँ मूर्त्त बनरही हैं। आचार्यवरने सब साधु-साध्वियों तथा श्रावकोंकी उपस्थितिमें युवाचार्य-पदका पत्र लिखा। शरीर अस्वस्थ था। हाथमें अतुल वेदना थी। फिर भी कर्तव्य निभानेकी असीम भावना थी। इस घड़ीसे पहले उन्हें शासन-प्रबन्धकी चिन्ता मुक्ति नहीं दे रही थी। वे अपने उत्तर-दायित्वमें कोई खामी देखना नहीं चाहते थे। गुरुदेवने आपको युवाचार्य-पदका उत्तरीय धारण कराया। अपना लिखा पत्र पढ़ा :—

"गुरुभ्यो नमः

भिक्षु पाट भारीमाल

भारीमाल पाट रायचन्द

रायचन्द पाट जीतमल

जीतमल पाट मघराज

मघराज पाट माणकलाल
माणकलाल पाट डालचन्द
डालचन्द पाट कालूराम
कालूराम पाट तुलसीराम

विनयवंत आज्ञा-मर्यादा प्रमाणे
चालसी सुखी होसी (सम्वत्
१९९३ भादवा प्रथम सुदी ३ गुरुवार)"

समूचे संघमें हर्षकी लहर दौड़ गई। योग्यतम धर्मनेताको पा सबको गौरव अनुभव हुआ। समूचा संघ चिन्ताविमुक्त हो गया।

तेरापन्थमें भावी व्यवस्थाका भार एकमात्र आचार्य पर होता है। इसमें दूसरे किसीकी पंचायत नहीं होती। आचार्य जिसे योग्य समझें, उसे अपना उत्तराधिकारी चुन लेते हैं। वही समूचे संघको बिना किसी 'ननु' 'नच' के मान्य होता है। न इसमें किसीके मतकी अपेक्षा होती है, न सलाह की।

आचार्य इसे अपना सबसे महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व मानते हैं। फिर भी कालूगणीके अस्वास्थ्यको देखते हुए भावी व्यवस्थाका न होना संघके लिए चिन्ताका कारण था। एकाधिनायकतामें पूर्वाचार्यके द्वारा भावी आचार्य न चुना जाये तो संघका भविष्य समस्यामय बन जाता है। किन्तु महामनीषी गुरुदेव किसीको चिन्तातुर बनानेवाले नहीं थे। उन्होंने अपना उत्तरदायित्व

पूरा किया। इससे समूचे संघको आनन्द हुआ। स्वयं उन्होंने अनुभव किया।

आचार्यश्री के सामने अपने उत्तराधिकारीकी स्थिति बड़ी सुखद घटना थी। कई वर्षों तक ऐसी स्थिति रहती तो वह एक स्वर्ण-सुगन्धका संयोग बनता। मनुष्यका स्वभाव कल्पना करने का है। आखिर तो जो होना हो, वही होता है।

कल्पनाकी मीठी घड़ियोंको अधिक अवकाश नहीं मिला। छठके शामको हम सबके देखते-देखते परम श्रद्धेय गुरुदेव हम सबसे दूर हो गये। अब हमारे पास उनकी दैहिक सम्बन्धोंकी स्मृतिके सिवाय और कुछ नहीं रहा। संघपतिके प्रति अटूट असीम भक्तिके कारण वह दिन समूचे संघके लिए असह्य था। उस समय आचार्यश्री तुलसीने अन्तर-वेदनाके उपरान्त भी संघको बड़ी सान्त्वना दी। आपका धैर्य्य, साहस दूसरोंके लिए सिर्फ आश्चर्यमें डालनेवाला ही नहीं, किन्तु उन्हें साहसी बनानेवाला भी था उसी दिन आपने शासनका पूर्ण उत्तरदायित्व संभाला। नवमीके दिन बड़े समारोहके साथ आपका पट्टोत्सव मनाया गया। अब भी प्रतिवर्ष उसी दिन बड़े समारोहके साथ वह मनाया जाता है।

पहला कदम

कालुगणिने साधु-संघको शिक्षा-सम्पन्न बनानेके लिए जो चिरकालीन साधना की, उसके अनेक परिणाम सामने आये। अपने शिष्यको स्वयं तैयार कर अपना उत्तराधिकारी बनाना यह सबसे बड़ा परिणाम था। तेरापन्थके इतिहासमें यह पहला अवसर था। दूसरे भी अनेक शिष्य बड़े विद्वान् बने, उन्होंने सुदूर क्षेत्रोंमें जाकर धर्मकी बड़ी प्रभावना की। फिर भी कालुगणि अपनी साधनाको चरम सीमा पर पहुंची हुई नहीं मानते थे। साध्वीवर्गकी शिक्षाका प्रश्न अभी हल नहीं हो पाया था। उसके बहुमुखी विकासकी योजनाएं कार्यकालमें नहीं आ सकी थीं। कालुगणीने आपको जो भावी कार्यक्रम बताया, साध्वी-शिक्षा उसका एक प्रमुख अंग था। आपने पहला कदम यही चुना।

कालुगणीका स्वर्गवास हुए पूरे पन्द्रह दिन नहीं हुए थे, आपने साध्वियोंको संस्कृत-व्याकरण—कालुकौमुदीका अध्ययन शुरू करवाया। वह आपके जीवनका अभिन्न कार्यक्रम बन गया। आज भी उसी रूपमें चालू है। साध्वी-शिक्षाके लिए आपने जो सफल प्रयास किया, वह आपके यशस्वी जीवनका एक समुज्ज्वल पृष्ठ होगा।

इस विशेष शिक्षामें शुरू-शुरूमें १३ साध्वियां आई थीं। आज उनकी संख्या लगभग १५० है। साध्वी-शिक्षाके बारेमें अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए आप कई बार कहते हैं:—

"शिक्षाके क्षेत्रमें हमारी साध्वियां किसीसे पीछे नहीं हैं। इनके पवित्र आचार-विचार, विद्यानुराग और निष्ठा प्रत्येक नारी के लिए अनुकरणीय है।"

शिक्षा-प्रवृत्तियां

आचार-कौशलको सुसंस्कृत रखनेके लिए विचारोंकी भित्ति विवेचनापूर्ण होनी चाहिए। बहुमुखी शिक्षाके विना यह सम्भव नहीं। इसलिए आपने उस पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। आपकी शिक्षा सम्बन्धी प्रवृत्तियोंकी जानकारी भी कम महत्त्व पूर्ण नहीं है।

विद्या विकासकी प्रवृत्तिका पहला अंग है तीन पाठ्यक्रमोंका निर्माण। वह यों है:—

(१) आध्यात्मिक शिक्षाक्रम

(२) सिद्धान्त-शिक्षाक्रम

(३) जैनधर्म-शिक्षाक्रम

पहली प्रवृत्तिमें व्याकरण (हिन्दी, संस्कृत और प्राकृत), साहित्य, सिद्धान्त, दर्शन, कोश, इतिहास, ज्योतिष, अन्य

(वैकल्पिक) भाषा और कला इन ६ विषयोंका शिक्षण होता है। इसके शिक्षाकालकी अवधि नौ वर्षकी है। इसकी योग्य, योग्यतर और योग्यतम, ये तीन परीक्षाएं निश्चित हैं। साधु-संघमें इसका सफल प्रयोग हो रहा है।

'जैनधर्म शिक्षा' द्वारा श्रावक - समाज तत्त्वज्ञानी, सर्वधर्म-समन्वयी और विशालदृष्टि होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। अन-पढ़ स्त्रियां भी आपकी प्रेरणाके सहारे जैन-सिद्धान्तोंकी मार्मिकता तक पहुंचनेमें सफल हुई हैं।

स्त्रीशिक्षाके बारेमें आप अन्तर-द्वन्द्वसे मुक्त हैं। इस विषय पर आपने कहा है—

"शिक्षा विकासका साधन है। उससे बुराई बढ़ती है, मैं यह माननेको तैयार नहीं हूं। शिक्षाके लिए स्त्री-पुरुषका भेद-भाव नहीं किया जा सकता। बुराईके कारणोंको ढूंढना चाहिए। उनके बदले शिक्षाको बदनाम करना एक बुरी मनोवृत्ति है।"

तीसरी शिक्षा-पद्धति प्रयुक्त नहीं हुई है। प्रयोगकी परिधिके आसपास है। सिद्धान्तके अतिरिक्त दूसरे विषयोंमें गति नहीं पाने-वालोंके लिए यह पद्धति अत्यन्त लाभकारक होगी, ऐसा सम्भव है।

इनके अतिरिक्त मासिक निबन्ध-लेखन, संस्कृत-भाषण-सम्मे-लन, समस्या-पूर्ति-सम्मेलन, कवि-सम्मेलन, साप्ताहिक संस्कृत-भाषण-प्रतिज्ञा, वाद-प्रतियोगिता, सिद्धान्त-चर्चा-आयोजन, सहस्वाध्याय आदि अनेकविध प्रवृत्तियां आपकी विद्याविकास-योजनाके अंग बनीं।

आगमनिष्ठ, सुसंगठित और सुमर्यादित तेरापन्थ संघको बहु-मुखी विद्या-सम्पन्न करनेका श्रेय आपकी सूक्ष्म दृष्टिको मिलेगा। तेरापन्थ संघ आपका कितना ऋणी है, यह भविष्य बतायेगा।

विड़ला-कालेज, पिलानीके धर्म-संस्कृति एवं संस्कृत-साहित्यके प्राध्यापक ए० एस० बी० पंत एम० ए० बी० टी० ने एक लेखमें बताया है—

"[1]ये साधु शुद्ध एवं धार्मिक अध्ययन करनेमें अत्यधिक लगे रहते हैं। मैंने उनमेंसे कई एक साधुओंके साथ साहित्यिक एवं दार्शनिक चर्चा की, अनुभव किया कि उनमें अच्छी जानकारी है। उनमेंसे कई एक साधु तो उच्च श्रेणीके कवि हैं। नव दीक्षितोंको शिक्षा देनेका उनका ढंग स्तुत्य है। वह अध्ययन, बोध, आचरण एवं प्रचारणपर समानरूपेण जोर देते हैं।"

---

1 These Sadhus are very much devoted to the pursuit of a studies secular and sacred. I had literary and philosophical discussions with some of them. I found them quite well informed. Some of them are poets of a very high order. Their system of imparting education to the newly initiated is praiseworthy. It lays equal emphasis on the four aspects of the persuit of knowledge, i. e., १ अध्ययन study, २ बोध assimilation, ३ आचरण application, ४ प्रचरण dissemination.

(विवरण-पत्रिका, २६ जुलाई, १९५१)

वर्ष १ संख्या ३ पृष्ठ २-३

कुशल वक्ता

मानव-समाजको लक्ष्यकी ओर आकृष्ट करनेके दो प्रमुख साधन हैं—लेखन और वाणी। लेखनीमें जहां भावोंको स्थायी बनानेका सामर्थ्य है, वहां वाणीमें तात्कालिक चमत्कार—जादूका सा असर होता है। आपने अपनी ओजस्वी वाणी द्वारा युवक-हृदयमें जो धर्मका पौधा सींचा है, वह धार्मिक जगत्के उज्ज्वल भविष्यका मंगल-संकेत है।

आजके भौतिकवादी युग और आत्महीन शिक्षा-पद्धतिमें पले हुए अर्ध-शिक्षित युवकोंकी धर्मके प्रति अश्रद्धा होना एक सहज स्थिति बन गई, वैसे वातावरणमें आपकी मर्मस्पर्शी विवेचना और तर्कसंगत उत्तरोंने युवकोंकी दिशा बदलनेमें जो सफल प्रयास किया है, वह सबके लिए उपादेय है।

आपका मृदु-मन्द्र स्वर, गम्भीर घोष, सुदूर तक पहुंचनेवाली आवाज श्रोताको आश्चर्यचकित किये बिना नहीं रहती। ध्वनि-विस्तारकका सहारा लिये बिना ही आप व्याख्यान करते हैं। फिर भी दश-पन्द्रह हजार व्यक्ति तो बड़ी सुविधाके साथ उसे सुन सकते हैं। यह शक्ति बहुत बिरले व्यक्तियोंको ही सुलभ होती है। राजस्थानमें आपके व्याख्यानकी भाषा राजस्थानी होती है। हिन्दी भाषी प्रान्तोंमें आप हिन्दी बोलते हैं। गुजराती लोगोंमें गुजराती और आवश्यकता होने पर कभी कभी संस्कृतमें भी व्याख्यान होता है। आप देश-कालकी मर्यादाओंको अच्छी तरह समझते हैं। आपके सार्वजनिक वक्तव्योंके अवसर पर हजारों लोग बड़ी उत्सुकतासे आते हैं।

आपको वाणीसम्बन्धी जो प्राकृतिक विशेषतायें प्राप्त हैं, उनसे मानसिक विशेषताएं कम प्राप्त नहीं हैं। आपको हर समय यह ख़याल रहता है—"मेरे व्याख्यानसे लोगोंको कुछ मिले, वे कुछ सीख सकें। मेरे व्याख्यान अगर लोक-रंजनके लिए हुए तो उससे क्या लाभ।"

जनताकी भाषामें जनताकी बातें कहना आपकी बड़ी विशेषता है। आपके व्याख्यानोंमें अधिकतया जनताके जीवन-उत्थानकी प्रेरणा रहती है। आपके उपदेश सुन हजारों व्यक्तियों ने दुर्व्यसन छोड़े हैं—तम्बाकू, मद्य, मांस, शिकार दुराचार आदि से दूर हुए हैं। सैकड़ों ऐसे आदमी देखे जो किसी भी शर्त पर तम्बाकू छोड़नेको तैयार न थे। उन्होंने आपका उपदेश सुनते-

सुनते बीड़ीके बण्डल फेंक दिए, चिलमें फोड़ दीं, आजीवन उससे मुक्त हो गए। कानूनकी अवहेलना कर मद्य पीनेवालोंने मद्य छोड़ दिया। और क्या, चोरबाजारी जैसी मीठी छुरी खानेवाले भी आपकी वाणीसे हिल गये। बाणसे न हिलनेवालोंको भी वाणी हिला देती है: इसकी सचाईमें किसे सन्देह है।

इस नवयुगकी सन्धि-वेलामें नवीनता-प्राचीनताका जो संघर्ष चल रहा है, उसे सम्हालने तथा बुड्ढों और युवकोंको एक ही पथ पर प्रवाहित करनेमें आपकी वाक्-शक्तिके सहज दर्शन मिलते हैं।

आप व्याख्यान देते-देते श्रोताओंकी मनोदशाका अध्ययन करते रहते हैं। आचारांग सूत्रमें बताया है कि व्याख्याताको परिषद्की स्थिति देखकर ही व्याख्यान करना चाहिए। अन्यथा लाभके बदले अलाभ होनेकी सम्भावन रहती है। श्रोताकी तात्कालिक जिज्ञासाका स्वयं समाधान होता रहे, यह वक्तृत्वका विशेष गुण है।

'गवर्नमेंट कालेज, लुधियाना' में एकबार आप प्रवचन कर रहे थे। वहां धर्म-प्रवचनका यह पहला अवसर था। बहुत सारे हिन्दू और सिक्ख विद्यार्थी जैन-साधुओंकी चर्यासे अनजान थे। उन्हें साधुओंकी वेषभूषा भी विचित्र सी लग रही थी। वे प्रवचनकी अपेक्षा बाहरी स्थितियों पर अधिक ध्यान किये हुए थे। आपने स्थितिको देखा। उसी वक्त बाहरी स्थितिसे दूर भागने वाले विद्यार्थियोंको सम्बोधन करते हुए कहा—

"भाइयों! आप घबड़ाइये मत। आपके सामने ये जो साधु बैठे हैं, वे आप जैसे ही आदमी हैं। श्रेष्ठ आदमी हैं। सिर्फ वेषभूषाको देखकर आप इनसे दूर मत भागिए। ये तपस्वी हैं। इनके जीवनकी कठोर साधना है। ये पढ़े लिखे हैं। इनका सारा समय गम्भीर अध्ययन, चिन्तन, मननमें बीतता है। आप इनके सम्पर्कसे बहुत कुछ सीख सकते हैं।"

दो क्षणमें स्थिति बदल गई। उन्हें आन्तरिक जिज्ञासाका समाधान मिल गया। इसलिए वे इस आशंकासे हटकर प्रवचन सुननेमें एकाग्र हो गये।

आपके व्याख्यानकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आप किसी पर आक्षेप नहीं करते। जो बात कहते हैं, वह सिद्धांतके रूपमें कहते हैं। अपनी बात कहते हैं, अपनी नीति बताते हैं, अपना मार्ग समझाते हैं। दूसरों पर प्रहार नहीं करते। दूसरों के गुणोंकी चर्चा करनेमें आपको तनिक भी संकोच नहीं है। जो कोई दूसरों पर व्यक्तिगत या जातिगत आक्षेप करते हैं; उन्हें आप बहुत कमजोर, क्लीब समझते हैं। आप कई बार कहते हैं—

'दूकानदारका काम इतना ही है कि वह अपनी दूकानका माल दिखादे। किन्तु यह दूकानदार ऐसा है, वह वैसा है, यह करना ठीक नहीं। अगर उसका माल अच्छा है तो दुनियां अपने आप लेगी। अगर अच्छा नहीं है तो वह कितने दिनों तक दूसरों की बुराईपर अपना माल बेचेगा। आखिर अपनेमें अच्छाई होनी चाहिए। वह हो तो दूसरोंपर कीचड़ फेंकनेकी बात ही न सूझे।"

आप बचपनसे ही अध्यापन कार्यमें रहे हैं। इसलिए आपकी वक्तृतामें वह शैली झलक जाती है। प्रत्येक विषयका आदिसे अन्त तक निर्वाचन करना, व्युत्पत्तिसे फलित तक समझाना आपकी सहज प्रवृत्ति है। स्यात् किसी प्रौढ़ श्रोताको यह बात किञ्चित् सा लगे किन्तु जनसाधारणके लिए विशेष उपयोगी है। जनसाधारणके हृदय तक पहुंचनेवालोंकी वाणीमें सरलता और सरसता हो, यह नितान्त वाञ्छनीय है।

आप व्याख्यानके बीच कहीं कहीं गायन को भी आवश्यक समझते हैं। ग्रामीण अथवा अपढ़ लोगोंके बीच आप अधिकतया कथा और चित्रोंका सहारा लेतेहैं। उनके द्वारा गूढ़से गूढ तत्त्व सरल बन जाता है, हृदयमें पैठ जाता है। पण्डितोंमें उनकी भाषा तथा ग्रामीणोंमें ग्रामभाषाके सहारे कार्य करना सफलताकी कुंजी है। सब जगह एकसा बने रहनेका अर्थ है असफल होना। ग्रामीणोंके बीच बैठकर कोई पण्डिताई जचाए तो वे बेचारे क्या समझें। उन्हें कोई उन जैसा बनकर समझाए तो वे समझने को तैयार हैं। उनमें शहरी लोगोंकी भांति आग्रह, पक्षपात और बुराईके प्रति प्रेम नहीं है।

दिल्लीसे १० मील दूरी पर एक 'राई' ग्राम है। आप वहां पधारे। व्याख्यान हुआ। वहांके सैकड़ों ब्राह्मण और किसान सुनने आये। आपने तम्बाकू, व्यभिचार, शराब, खान-पानकी चीजोंमें मिलावट, कूड़ तोल-माप आदि बुराइयोंको उन्हें समझाया। उसी समय सैकड़ों व्यक्तियोंने इन सब बुराइयोंको छोड़ने

की प्रतिज्ञाकी और उन्होंने अपनेको धन्य समझा। आपकी सार्व-जनीन वृत्तिका तब हृदयग्राही साक्षात् होता है, जब आप गांवोंकी जनताके बीच पहुंचकर उनकी सीधी-सादी बोलीमें उन्हें जीवन-सुधारकी बातें सुनाते हैं, सत्य-अहिंसाका उपदेश देते हैं। आपकी इस लोकोत्तर प्रवृत्तिका उल्लेख करते हुए राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र-प्रसादने बड़े मार्मिक उद्गार व्यक्त किये हैं। वे अपने एक पत्रमें[1] लिखते हैं—

"उसदिन[2] आपके दर्शन पाकर बहुत अनुगृहीत हुआ। इस देशमें ऐसी परम्परा चली आई है कि धर्मोपदेशक धर्मका ज्ञान और आचरण जनताको मौखिक ही बहुत करके दिया करते हैं। जो विद्याध्ययन कर सकते हैं, वह तो ग्रन्थोंका सहारा ले सकते हैं, पर कोटि-कोटि साधारण जनता उस मौखिक प्रचारसे लाभ उठाकर धर्म-कर्म सीखती है। इसलिए जिस सहज सुलभ रीतिसे आप गूढ तत्त्वोंका प्रचार करते हैं, वे सुनकर मैं बहुत प्रभावित हुआ और आशा करता हूं कि इस तरह का शुभ अवसर और भी मिलेगा।"

१—ता० ३१।१०।४९

२—२१।१०।४९

कवि और लेखक

आपकी सर्वतोमुखी प्रतिभा प्रत्येक क्षेत्रमें अबाध गतिसे चमक रही है। साहित्य-जगत् आपके ऋणसे मुक्त नहीं है। आपकी अमर कृति 'कालू-यशोविलास' साहित्य जगत्का एक देदीप्यमान रत्न है। उसमें शब्दोंका चयन, भावोंकी गम्भीरता, वर्णनाकी प्रौढ़ता, परिस्थितियोंका प्रकाशन, घटनाओंका चुनाव ऐसी भावुकताके साथ हुए हैं कि वह अपने परिचयके लिए पर-निरपेक्ष है। संगीतके मिठाससे भरापूरा वह महाकाव्य जैन-सन्तों की साहित्य-साधनाका जीवित प्रमाण है।

भारतीय साहित्यकी सन्तोंके मुँहसे प्रवाहित हुई धारा विश्व की सम्माननीय निधिमें अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये हुए है। मोह-मायासे दूर तटस्थ वृत्तिमें रहनेवाले साधु-सन्तोंकी वाणीसे

जनताका असीम हित सध सकता है। आप अपने बीस वर्षके कवि-जीवनमें करीब दश हजार पद्य लिख चुके हैं। आपकी स्फुट लेख-सामग्री भी विचारकोंको प्रचुर मात्रामें स्वस्थ और स्फूर्तिप्रद मानसिक भोजन देती हैं। विदेशी सूत्रोंने भी आपके विचारोंका हार्दिक स्वागत किया है। विश्वके विभिन्न भागोंमें होनेवाले सम्मेलनोंके अवसर पर दिये गये आपके वक्तव्य, सन्देश बड़े मननीय हैं। उनमेंसे कुछ एक ये हैं :—

(१) [1]अशान्त विश्वको शान्तिका सन्देश

(२) [2]धर्म-रहस्य

(३) [3]आदर्श राज्य

(४) [4]धम सन्देश

(५) [5]पूर्व और पश्चिमकी एकता

१—लन्दनमें आयोजित 'विश्व-धर्म-सम्मेलन' के अवसरपर (आषाढ कृष्णा ४,२००१)

२—दिल्लीमें एशियाई कान्फ्रेन्सके अवसरपर भारतकोकिला सरोजिनी देवी नायडूकी अध्यक्षतामें २१ मार्च सन् १९४७ को आयोजित 'विश्व-धर्म-सम्मेलन' के अवसर पर।

३—ता० २३-३-४७ को दिल्लीमें पं० जवाहरलाल नेहरूके नेतृत्वमें आयोजित एशियाई कान्फ्रेन्सके अवसर पर।

४—ता० ११-३-४७ को हिन्दी तत्त्व-ज्ञान-प्रचारक-समिति अहमदाबाद द्वारा आयोजित 'धर्म-परिषद' के अवसरपर

५—लन्दनमें हुए जैन-धर्म-सम्मेलनके अवसर पर

(६) 'विश्वशान्ति और उसका मार्ग

(७) 'धर्म सब कुछ है, कुछ भी नहीं

(८) 'वाद का व्यामोह

(९) 'अपरिग्रह और अर्थवाद

(१०) 'संघर्ष कैसे मिटे ?

(११) 'विदाई सन्देश

(१२) 'धर्म और भारतीय दर्शन

(१३) 'गणतन्त्र की सफलताका आधार—अध्यात्मवाद

(१४) 'भारतीय संस्कृतिकी एक विशाल धारा

१—शान्ति-निकेतनमें आयोजित 'विश्व-शान्ति सम्मेलन' के अवसर पर

२—जनवरी सन् १९५०, के दिल्लीके 'सर्व-धर्म-सम्मेलनके अवसर पर

३—भिवानी (पंजाब) आषाढ (प्रथम) शुक्ला १४, सं० २००७

४—दिल्ली—सब्जीमण्डीमें आयोजित 'साहित्य-गोष्ठी' में ज्येष्ठ शुक्ला १०, सं० २००७ (२८ मई, ५०)

५—नई दिल्ली 'सम्पादक-सम्मेलन' में दूसरा वक्तव्य ज्येष्ठ कृष्ण ३० (१५ मई, ५०)

६—आषाढ कृष्णा ८ गुरुवार, करोलबागमें; देहली से विदाईके अवसरपर

७—कलकत्तामें डा० राधाकृष्णनकी अध्यक्षतामें आयोजित भारतीय दर्शन-परिषद्' के रजत-जयन्ती समारोहके अवसर पर

८—हांसी (पंजाब), २६ जनवरी, १९५१

९—हांसी (पंजाब), आश्विन, २००७

इनमें 'अशान्त विश्वको शान्तिका सन्देश' यह आपका पहला सन्देश है। द्वितीय महासमरकी भीषण लपटोंसे झुलसे हुए संसार ने इसका हार्दिक स्वागत किया। देश और विदेशमें सब जगह अच्छी प्रतिक्रिया हुई। महात्मा[1] गांधीने 'सन्देश' की पुस्तिकापर कई जगह टिप्पणियाँ लिखीं। शान्ति-सन्देश ता० २२-६-४५ के दिन दिया गया था परन्तु प्रकाशित काफी लम्बे समयके बाद हुआ; इसलिए भूमिकाके पृष्ठ पर महात्माजीने लिखा 'ऐसे सन्देश निकालनेमें देरी क्यों?' विश्व-शान्तिके उपायोंका निर्देश करते हुए 'सम्यक्त्व' का जिक्र किया गया है। उसके बारेमें पृष्ठ ११ पर महात्माजीने लिखा है 'क्या इस सम्यक्त्वका प्रचार कियागया?' पृष्ठ २१ पर विश्वशान्तिके सार्वभौम उपायोंका निर्देश करते हुए नौ बातें बतलाई गई हैं, इसपर टिप्पणी करते हुए लिखा है—'क्या ही अच्छा होता कि दुनियां इस महापुरुषके इन नियमोंको मान कर चलती।'

न्यूयार्कके साइरेक्यूज विश्वविद्यालयके डा० रेमन्ड एफ० पीपरने[2] एक पत्रमें लिखाकि उन्होंने तुलनात्मक अध्ययनके लिए अपने छात्रोंके पाठ्यक्रममें जैन तेरापन्थके नवमाचार्य श्रीमत तुलसीरामजी महाराज द्वारा गत २६ जून १९४५ को दियेगये प्रवचन 'अशान्त विश्वको शान्तिका सन्देश'के महत्त्वपूर्ण अंशोंको सम्मिलित कर लिया है।

१—जैन-भारती जुलाई १९४७

२—जैन भारती मार्च १९४९

आचार्यश्रीके प्रवचन, कवित्व और लेखोंकी पंक्तियाँ रखे बिना ही आगे बढ़ूंगा तो संभव है, पाठक अतृप्तिका अनुभव करेंगे। इसलिए मुझे अति कृपण क्यों होना चाहिए।

प्रवचनकी पँखुड़ियाँ

फूलकी कोमल पंखुड़ियों में आकर्षण होता है, इसमें कोई विवाद नहीं। वह कितना टिकता है, इसमें कुछ ऐसा वैसा है।

ये प्रवचनकी पँखुड़ियाँ, हृदयकमलको विकसानेवाली पंखुड़ियाँ कितना आकर्षण, नहीं कितना स्थायित्व रखती हैं, इसका मनुष्यको ज्ञान है। आत्मनिष्ठ योगीकी साधनासे तपी वाणीको पीनेके लिए इसलिए लोग उमड़ते हैं कि उसका उनपर स्थायी असर होगा। स्थायी असर जितना ही नहीं, उससे कहीं अधिक महत्त्वका प्रश्न उनके हितका है। अहितकी बातका असर भी स्थायी होता है, पर उससे क्या बने। आचार्यश्री की प्रवचन-वाणीमें जनताके हितकी जो साधना है, सही मार्ग-दर्शन है, उसका पूरा ब्यौरा देना मैं मेरी शक्तिके परे मानता हूं। फिर भी कुछ एकका उल्लेख किये बिना नहीं रहूंगा।

प्रवचनकार आचार्यश्री की जीवन-भूमिका आध्यात्मिक है। इसलिए आपकी वाणीमें उसीकी एकरसता है। अध्यात्ममें व्यवहारकी बात नहीं रहती, यह नहीं है। व्यवहारका शोधन अध्यात्मसे ही होता है। जो लोग धर्मसे दूर भागकर जीवन चलानेकी बातें करते हैं, उनको लक्ष्य कर आपने एक प्रवचनमें कहा—

"धर्म[1] से कुछ लोग चिढ़ते हैं, किन्तु वे भूल पर हैं। धर्मके नाम पर फैली हुई बुराइयोंको मिटाना आवश्यक है, न कि धर्मको। धर्म जन-कल्याणका एकमात्र साधन है।"

आप यह मानते हैं कि आज धर्ममें विकार घुस आये हैं। आपका दृष्टि-बिन्दु यह है कि धर्ममें घुसे हुए विकारोंको निकाल फेंको, धर्म फेंकने जैसी वस्तु है ही नहीं। आपके शब्दोंमें वह हमारे जीवनमें उतना ही आवश्यक है, जितना कि रोटी-पानी। आपने एक प्रवचनमें बताया :—

"जो[2] लोग धर्म त्याग देनेकी बात कहते हैं, वे अनुचित करते हैं। एक आदमी गन्दा विषैला पानीसे बीमार हो गया। अब वह प्रचार करने लगा कि पानी मत पीओ, पानी पीनेसे बीमारी होती है। क्या यह उचित है? उचित यह होता कि वह अपनी भूलको पकड़ लेता और गन्दा पानी न पीनेको कहता। धर्मका त्याग करनेकी बात कहनेवालोंको चाहिए कि वे जनताको धर्मके नामपर फैले हुए विकारोंको छोड़ना सिखाएं, धर्म छोड़नेकी सीख न दें।

१—१५ अगस्त १९४९ के प्रवचनसे

२—१ जून, १९४७ के प्रवचनसे

आप उस व्यापक धर्मको स्वीकार कर चलते हैं, जिसमें पूर्ण समता है। आपने एक भाषणमें कहा—

"धर्मके लिए भी जातिवादका प्रश्न उठता है ? खेद !! धर्म सबके लिए है। भगवान् महावीरके शासनकालमें हरिकेशी जैसे चाण्डाल मुनि बने और अपनी साधनाके उत्कर्षसे देवताओंके पूज्य बने। जैनोंको इस जातिवादके पचड़ेमें पड़ना उचित नहीं।"

मन्दिर और हरिजन-प्रवेशके प्रश्नको लेकर आपने कहा—

"लोग कहते हैं हरिजन मन्दिरमें नहीं जासकते। उन्हें धर्म करनेका अधिकार नहीं। भला यह क्यों ? धर्मका द्वार सबके लिए खुला है। वहां प्रतिबन्ध कैसा ? धर्मके क्षेत्रमें जातिजन्य उच्चता नहीं, वहाँ कर्मजन्य उच्चता होती है। धर्ममें वही ऊँचा है, जिसका जीवन उत्कृष्ट साधनामय हो। धार्मिक उच्चता हरिजन या महाजन सापेक्ष नहीं है। धर्म ब्राह्मणोंका है, बनियोंका है, शूद्रोंका नहीं—यह भ्रान्ति है। वर्ण और जातिमूलक भेद-भावको भुलाओ। भगवान् महावीर द्वारा उद्घोषित विश्वबन्धुत्वके आदर्शको जीवनमें उतारो।"

वाद

आजकी दुनियांमें वादोंकी जो बाढ़सी आ रही है, उसका कारण आपने बड़ी मार्मिकतासे समझाया है :—

"इस संसार-मञ्चपर बड़ी-बड़ी क्रान्तियां हुई। उनके फल-स्वरूप नये-नये वाद जन्मे। पुराने जमानेमें समाजवाद साम्यवाद जैसे वादोंका नामतक नहीं था। आज इनकी बड़ी हलचल है।

इन वादोंके जन्मका कारण क्या है ? यह भी सोचा होगा। आप भिन्न-भिन्न वाद नहीं चाहते, फिर भी इनके पैदा होनेके साधन जुटा रहे हैं, आश्चर्य !! ये वाद दुःखमय स्थितियोंसे पैदा हुए हैं। एक व्यक्ति महलमें बैठा मौज करे और एकको खाने तकको न मिले, ऐसी आर्थिक विषमता जनतासे सहन न हो सकी। अगर आज भी उच्चवर्ग सम्हल जाय, अपरिग्रहव्रतकी उपयोगिता समझ ले तो स्थिति बहुत कुछ सुधर सकती है।"

धर्मकी व्याख्या

आप धर्मकी व्याख्या बड़े सरल शब्दोंमें करते हैं। उसे अनपढ़ आदमी भी हृदयङ्गमकर सकता है—

"...और धर्म क्या है ? सत्यकी खोज, आत्माकी जानकारी, अपने स्वरूपकी पहचान, यही तो धर्म है। सही अर्थमें यदि धर्म है तो वह यह नहीं सिखलाता कि मनुष्य-मनुष्यसे लड़े। धर्म नहीं सिखलाता कि पूंजीके माप-दण्डसे मनुष्य छोटा या बड़ा है। धर्म नहीं सिखलाता कि कोई किसीका शोषण करे। धर्म यह भी नहीं कहता कि बाह्य आडम्बर अपनाकर मनुष्य अपनी चेतना खो बैठे। किसीके प्रति दुर्भावना रखना भी यदि धर्ममें शुमार हो तो वैसा धर्म किस कामका। वैसे धर्मसे कोसों दूर रखना बुद्धिमत्ता-पूर्ण होगा।"

सादगी

आचार्यश्री किसी भी दशामें बाह्य आडम्बर और प्रदर्शनको पसन्द नहीं करते। आपने कार्यकर्ताओं के सम्मेलनमें उन्हें सम्बोधन करते हुए कहा—

"धार्मिक आयोजनोंमें आडम्बर और प्रदर्शनसे कार्यकर्ताओं

को सावधान रहना चाहिए। आत्मोत्साहमें भौतिक साधनोंका महत्त्व गौण है। धर्मकी प्रतिष्ठा धार्मिक प्रवृत्तियोंसे ही बढ़ सकती है।

आप धर्ममें ज्ञान और श्रद्धाका पूर्ण सामञ्जस्य चाहते हैं। आपकी दृष्टिमें पुरुषोंमें जहां ज्ञान है, वहां श्रद्धाकी कमी है। महिलाएं श्रद्धासे परिपूर्ण हैं तो ज्ञानमें पीछे हैं। दोनों ओर अधूरापन हैं। आपने महिलाओंकी सभामें भाषण करते हुए कहा—

"ज्ञानके बिना श्रद्धा अधूरी है। संस्कारी महिलाएं अपनी सन्ततिके लिए सच्ची अध्यापिकाएं होती हैं। उनके अज्ञानका परिणाम सन्ततिको भी भोगना पड़ता है।"

धर्मकी अगाध श्रद्धासे निकली हुई क्रान्ति-वाणी व्यवहार पर कैसा प्रतिबिम्ब डालती है, इस पर भी हमें सरसरी दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

'नवीनता और प्राचीनता,' 'युवक और वृद्ध आदि अवाञ्छनीय समस्याओंको सुलझानेमें आप बहुत सफल हुए हैं। इस बारेमें मैं आपकी बहुमूल्य वाणीको रखनेमें कृपण बनना पसन्द नहीं करूंगा। आपने बार-बार जनताको समझाया:—

"अमुक वस्तु नयी है, इसलिए बुरी है एवं अमुक वस्तु पुरानी है, इसलिए अच्छी है, यह कोई उपयुक्त तर्क नहीं। केवल प्राचीनता या नवीनता ही अच्छेपनकी कसौटी नहीं कही जा सकती। सभी नई वस्तुएं नई होनेके नाते ही अच्छी हैं या

खराब, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यही बात पुरानी वस्तुओं के लिए भी लागू होती है। अच्छापन या बुरापन नवीनता या प्राचीनताकी अपेक्षा नहीं रखता। बहुत सी प्राचीन वस्तुएं भी अच्छी हो सकती हैं और नई भी। यह तो वस्तुके गुण पर निर्भर है। इसलिए नईका नाम सुनते ही उसका विरोध नहीं हो जाना चाहिए और उसी तरह पुरानीसे भी नाक-भौं सिकोड़ना ठीक नहीं। वास्तवमें अच्छेपन और बुरेपनको परखनेके उपरान्त ही कुछ निर्णय किया जा सकता है और यह उचित भी है।

इसलिए नवयुवकोंकी उचित मांगों पर अभिभावकगण सहिष्णुतासे विचार करें। यदि युवकोंके नये विचार बुजुर्गोंको ठीक नहीं जचते, तो उचित यह है कि वे प्रेमसे समझावें और अपने विचार उनके दिमागमें जचानेकी कोशिश करें। उनकी कुछ भी नहीं सुनकर केवल अपनी राग अलापना कि 'क्या करें, युवक हमारी मानते नहीं हैं' स्वयं अपना महत्त्व गँवाना है। क्यों नहीं वे अपने आपको ऐसा बनालें कि युवकोंको उनकी न्यायसंगत बातें माननी ही पड़ें। मगर यह तभी सम्भव है, जबकि परस्पर समन्वयात्मक रीतिसे बात की जाय। यदि वृद्ध और नौजवान दोनों इस तरहका व्यवहार काममें लायें तो यह आपसी संघर्ष बहुत शीघ्र दूर हो सकता है, जिसका दूर होना आवश्यक है।

मैं युवक-मानसको समझता हूं। वह क्रान्ति चाहता है। उसके लिए आन्दोलन करता है। आश्चर्य यह है कि वह अपना

सुधार भूल जाता है। यह क्या है? क्रान्ति है या भ्रान्ति? युवक स्वयं निर्णय करें।

सुधारका नशा नहीं होना चाहिए। सुधारक नई-पुरानी में नहीं उलझता। वह संयमकी ओर बढ़ता चला जाता है, अकेला नहीं दूसरोंको साथ लिये लिये।"

आप अपने विचारोंमें स्पष्ट हैं। प्रवचनके समय आप विचारोंको सूत्ररूपमें रखते हैं। वे थोड़ेमें ठेठ जनताके दिलमें चुभ जाते हैं। उदाहरणके रूपमें देखिये :—

"विश्वशान्तिके लिए अणुबम आवश्यक है, ऐसी घोषणा करनेवालोंने यह नहीं सोचा—यदि वह उनके शत्रुके पास होता तो।"

"दूसरा आपको अपना शिरमौर माने—तब आप उसके सुख-दुखकी चिंता करें। यह भलाई नहीं, भलाईका चोगा है।"

"मैं किसी एककेलिए नहीं कहता, चाहे साम्यवादी, समाजवादी या दूसरा कोई भी हो; उन्हें समझ लेना चाहिए कि दूसरों का इस शर्त पर समर्थन करना कि वे उनके पैरों तले चिपटे रहें, स्वतन्त्रताका समर्थन नहीं है।"

"न्याय और दलबन्दी ये दो विरोधी दिशाएं हैं। एक व्यक्ति एक साथ दो दिशाओंमें चलना चाहे, इससे बड़ी भूल और क्या हो सकती है?"

"स्वतन्त्र वह है, जो न्यायके पीछे चलता है। स्वतन्त्र वह है, जो अपने स्वार्थके पीछे नहीं चलता। जिसे अपने स्वार्थ और गुटमें ही ईश्वर-दर्शन होता है, वह परतन्त्र है।"

"अध्यात्मप्रधान भारतीयोंमें अमानवीय बातें अधिक अखरने वाली हैं।"

"वह दिन आनेवाला है, जब कि पशुबलसे उकताई हुई दुनियां भारतीय जीवनसे अहिंसा और शान्तिकी भीख मांगेगी।"

"हिंसा और स्वार्थकी नींव पर खड़ा किया गया वाद भले ही आकर्षक लगे, अधिक टिक नहीं सकता।"

"प्रकृतिके साथ खिलवाड़ करनेवाले इस वैज्ञानिक युगके लिए शर्मकी बात है कि वह रोटीकी समस्याको नहीं सुलझा सकता। सुखसे रोटी खा जीवन बिताना, इसमें बुद्धिमान् मनुष्यकी सफलता नहीं है। उसका कार्य है आत्मशक्तिका विकास करना, आत्मशोधनोन्मुख ज्ञान-विज्ञानकी परम्पराको आगे बढ़ाना।"

आपके शब्दोंमें हमें नास्तिकताकी बड़ी युगानुकूल व्याख्या मिलती है :—

"आजकी दुनियांकी दृष्टि धन पर ही टिकी हुई है। धनके लिए ही जीवन है, लोग यों मान बैठे हैं। यह दृष्टिदोष है—नास्तिकता है। जो वस्तु जैसी नहीं, उसको वैसी मान लेना ज्यों मिथ्यात्व है; त्यों साधनको साध्य मान लेना क्या नास्तिकता नहीं है?

धन जीवनके साधनोंमेंसे एक है, साध्य तो है ही नहीं। इस नास्तिकताका परिणाम—पहली मंजिलमें शोषण आखिरी मंजिल में युद्ध है।"

आप सामयिक पदार्थाभावका विश्लेषण करते हुए बड़ा

मननीय दृष्टिकोण सामने रखते हैं। यह दूसरी बात है कि भूत-वादके राग-रंगमें फंसी दुनियां इसे न समझ पावे अथवा समझ-कर भी न अपना सके, किन्तु वस्तु स्थिति उसके साथ है—

"लोग कहते हैं—जरूरतकी चीजें कम हैं। रोटी नहीं मिलती कपड़ा नहीं मिलता। यह नहीं मिलता, वह नहीं मिलता आदि आदि। मेरा खयाल कुछ और है। मैं मानता हूं कि जरूरतकी चीजें कम नहीं, जरूरतें बहुत बढ़ चली, संघर्ष यह है। इसमेंसे अशान्तिकी चिनगारियां निकलती हैं।"

बाहरी नियन्त्रणमें आपकी विशेष आस्था नहीं है। नियम आत्मामें बैठकर जो असर करता है, उसका शतांश भी वह बाहर रहकर नहीं कर सकता। इसको बार-बार बड़ी बारीकीके साथ समझाते हैं—

"सफलताकी मूल कुंजी जनताकी भावना है। उसका विकास संयममूलक प्रवृत्तियोंके अभ्याससे ही हो सकता है।

नैतिक उत्थान व्यक्ति तक ही सीमित रहा तो उसकी गति मन्द होगी। इसलिए इस दिशामें सामूहिक प्रयास आवश्यक है। यह प्रश्न हो सकता है, अक्सर होता ही है। इसका उत्तर सीधा है। मैं न तो राजनैतिक नेता हूं, न मेरे पास कानून और डण्डेका बल है। मेरे पास आत्मानुशासन है। अगर आपको जचे, तो आप इसे लें।

आप जन-तन्त्रको सफल बनाना चाहते हैं तो आत्मानुशासन सीखें। मेरी भाषामें स्वतन्त्र वही है, जो अधिकसे अधिक

आचार्यश्रीके प्रवचन, कवित्व और लेखोंकी पंक्तियां रखे विना ही आगे बढ़ूंगा तो संभव है, पाठक अतृप्तिका अनुभव करेंगे। इसलिए मुझे अति कृपण क्यों होना चाहिए।

बनती है। धर्माचार्य प्रवृत्तिका निर्देशन न करें, इसका अर्थ यह नहीं कि सत्प्रवृत्तिका मार्ग दिखाना उनके लिए आवश्यक नहीं है। है। और फिर है। जनता उनसे आशा रखती है और मार्ग-दर्शन चाहती है आचार्यश्रीने इसी दिशामें संसारको ऋणी बनाया है।

प्रवचनकार आचार्यश्री की जीवन-भूमिका आध्यात्मिक है। इसलिए आपको वाणीमें उसीकी एकरसता है। अध्यात्ममें व्यवहारकी बात नहीं रहती, यह नहीं है। व्यवहारका शोधन अध्यात्मसे ही होता है। जो लोग धर्मसे दूर भागकर जीवन चलानेकी बात करते हैं, उनको लक्ष्य कर आपने एक प्रवचनमें कहा—

"धर्म[1] से कुछ लोग चिढ़ते हैं, किन्तु वे भूल पर हैं। धर्मके नाम पर फैली हुई बुराइयोंको मिटाना आवश्यक है, न कि धर्मको। धर्म जन-कल्याणका एकमात्र साधन है।"

आप यह मानते हैं कि आज धर्ममें विकार घुस आये हैं। आपका दृष्टि-बिन्दु यह है कि धर्ममें घुसे हुए विकारोंको निकाल फेंको, धर्म फेंकने जैसी वस्तु है ही नहीं। आपके शब्दोंमें वह हमारे जीवनमें उतना ही आवश्यक है, जितना कि रोटी-पानी। आपने एक प्रवचनमें बताया :—

"जो[2] लोग धर्म त्याग देनेकी बात कहते हैं, वे अनुचित करते हैं। एक आदमी गन्दा विषैला पानीसे बीमार हो गया। अब वह प्रचार करने लगा कि पानी मत पीओ, पानी पीनेसे बीमारी होती है। क्या यह उचित है? उचित यह होता कि वह अपनी भूलको पकड़ लेता और गन्दा पानी न पीनेको कहता। धर्मका त्याग करनेकी बात कहनेवालोंको चाहिए कि वे जनताको धर्मके नामपर फैले हुए विकारोंको छोड़ना सिखाएं, धर्म छोड़नेकी सीख न दें।

१—१५ अगस्त १९४९ के प्रवचनसे
२—५ जून, १९४७ के प्रवचनसे

आप उस व्यापक धर्मको स्वीकार कर चलते हैं, जिसमें पूर्ण समता है। आपने एक भाषणमें कहा—

"धर्मके लिए भी जातिवादका प्रश्न उठता है? खेद!! धर्म सबके लिए है। भगवान् महावीरके शासनकालमें हरिकेशी जैसे चाण्डाल मुनि बने और अपनी साधनाके उत्कर्षसे देवताओंके पूज्य बने। जैनोंको इस जातिवादके पचड़ेमें पड़ना उचित नहीं।"

मन्दिर और हरिजन-प्रवेशके प्रश्नको लेकर आपने कहा—

"लोग कहते हैं हरिजन मन्दिरमें नहीं आसकते। उन्हें धर्म करनेका अधिकार नहीं। भला यह क्यों? धर्मका द्वार सबके लिए खुला है। वहां प्रतिबन्ध कैसा? धर्मके क्षेत्रमें जातिजन्य उच्चता नहीं, वहां कर्मजन्य उच्चता होती है। धर्ममें वही ऊँचा है, जिसका जीवन उत्कृष्ट साधनामय हो। धार्मिक उच्चता हरिजन या महाजन सापेक्ष नहीं है। धर्म ब्राह्मणोंका है, बनियोंका है, शूद्रोंका नहीं—यह भ्रान्ति है। वर्ण और जातिमूलक भेद-भावको भुलाओ। भगवान् महावीर द्वारा उद्घोषित विश्वबन्धुत्वके आदर्शको जीवनमें उतारो।"

वाद

आजकी दुनियामें वादोंकी जो बाढ़सी आ रही है, उसका कारण आपने बड़ी मार्मिकतासे समझाया है :—

"इस संसार-मञ्चपर बड़ी-बड़ी क्रान्तियां हुईं। उनके फलस्वरूप नये-नये वाद जन्मे। पुराने जमानेमें समाजवाद साम्यवाद जैसे वादोंका नामतक नहीं था। आज इनकी बड़ी हलचल है।

साथ-साथ रात्रि-जागरणकी कल्पनासे वेदनामें मार्मिकता आ जाती है। उसका चरम रूप अन्तजगत्‌में न रह सकनेके कारण बहिर्जगत्‌में आ साकार बन जाता है। उसे कवि-कल्पना सुनाने की अपेक्षा दिखानेमें अधिक सजीव हुई है। अन्तर-व्यथासे पीड़ित मेवाड़की मेदिनीका कृश शरीर वहांकी भौगोलिक स्थिति का सजीव चित्र है।

मघवा गणीके स्वर्गवासके समय कालुगणीके मनोभावोंका आकलन करते हुए आपने गुरु-शिष्यके मधुर सम्बन्ध एवं विरह-वेदनाका जो सजीव वर्णन किया है, वह कविकी लेखनीका अद्भुत चमत्कार है:—

* "नेहड़ला री क्यारी म्हारा, मूको निराधार।
इसड़ी कां कीधी म्हारा, हियड़े रा हार॥
चितड़ो लाग्यो रे, मनड़ो लाग्यो रे।
खिण खिण समरूं, गुरु थांरो उपगार रे॥
किम विसरायें म्हांरा, जीवन - आधार॥
विमल विचार थारा, उज्ज्वल आचार रे।
कमल ज्यूं अमल, हृदय अविकार॥
आज सुदि कदि नही, लोपी तुज कार रे।
वह्यो वलि वलि तुम, मीट विचार॥
तो रे क्यां पधारया, मोये मूकी इह वार रे।
स्व स्वामी र शिष्य-गुरु, सम्बन्ध विसार॥

---

* कालु यशोविलास।

पिण सांचो जन-श्रुति, जगत् मझार रे।
एक पक्खी प्रीत नहीं, पड़ै कदि पार॥
पिक पिऊ करत, पपैयो पुकार रे।
पिण नहीं मुदिर नै, फिकर लिगार॥"

जैन-कथा-साहित्यमें एक प्रसंग आता है। गजसुकुमार, जो श्रीकृष्णके छोटे भाई होते थे, भगवान् अरिष्टनेमिके पास दीक्षित बन उसी रातको ध्यान करनेके लिए श्मशान चले जाते हैं। वहां उनका श्वसुर सोमिल आता है। उन्हें साधु-मुद्रामें देख उसके क्रोधका पार नहीं रहता। वह जलते अंगारे ला मुनिके शिर पर रख देता है। मुनिका शिर खिचड़ीकी भांति कलकला उठता है। उस दशामें वे अध्यात्मकी उच्च भूमिकामें पहुंच 'चेतन-तन-भिन्नता' तथा 'समः शत्रौ च मित्रे च' की जिस भावनामें आरूढ़ होते हैं, उसका साकार रूप आपकी एक कृतिमें मिलता है। उसे देखते-देखते द्रष्टा स्वयं आत्म-विभोर बन जाता है। अध्यात्मकी उत्ताल उर्मियां उसे तन्मय किये देती हैं :—

"जब धरे शीश* पर खीरे,
ध्यावे यों धृति-धर धीरे।
है कौन वरिष्ट भुवन में,
जो मुझको आकर पीरे॥
मैं अपनो रूप पिछानूं,
हो उदय ज्ञानमय भानू।

* गजसुकुमार

खराब, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यही बात पुरानी वस्तुओं के लिए भी लागू होती है। अच्छापन या बुरापन नवीनता या प्राचीनताकी अपेक्षा नहीं रखता। बहुत सी प्राचीन वस्तुएं भी अच्छी हो सकती हैं और नई भी। यह तो वस्तुके गुण पर निर्भर है। इसलिए नईका नाम सुनते ही उसका विरोध नहीं हो जाना चाहिए और उसी तरह पुरानीसे भी नाक-भौं सिकोड़ना ठीक नहीं। वास्तवमें अच्छेपन और बुरेपनको परखनेके उपरान्त ही कुछ निर्णय किया जा सकता है और यह उचित भी है।

इसलिए नवयुवकोंकी उचित मांगों पर अभिभावकगण सहिष्णुतासे विचार करें। यदि युवकोंके नये विचार बुजुर्गोंको ठीक नहीं जचते, तो उचित यह है कि वे प्रेमसे समझावें और अपने विचार उनके दिमागमें जचानेकी कोशिश करें। उनकी कुछ भी नहीं सुनकर केवल अपनी राग अलापना कि 'क्या करें, युवक हमारी मानते नहीं हैं' स्वयं अपना महत्त्व गँवाना है। क्यों नहीं वे अपने आपको ऐसा बनालें कि युवकोंको उनकी न्यायसंगत बातें माननी ही पड़ें। मगर यह तभी सम्भव है, जबकि परस्पर समन्वयात्मक रीतिसे बात की जाय। यदि वृद्ध और नौजवान दोनों इस तरहका व्यवहार काममें लायें तो यह आपसी संघर्ष बहुत शीघ्र दूर हो सकता है, जिसका दूर होना आवश्यक है।

मैं युवक-मानसको समझता हूं। वह क्रान्ति चाहता है। उसके लिए आन्दोलन करता है। आश्चर्य यह है कि वह अपना

सुधार भूल जाता है। यह क्या है? क्रान्ति है या भ्रान्ति? युवक स्वयं निर्णय करें।

सुधारका नशा नहीं होना चाहिए। सुधारक नई-पुरानी में नहीं उलझता। वह संयमकी ओर बढ़ता चला जाता है, अकेला नहीं दूसरोंको साथ लिये लिये।"

आप अपने विचारोंमें स्पष्ट हैं। प्रवचनके समय आप विचारोंको सूत्ररूपमें रखते हैं। वे थोड़ेमें ठेठ जनताके दिलमें चुभ जाते हैं। उदाहरणके रूपमें देखिये :—

"विश्वशान्तिके लिए अणुबम आवश्यक है, ऐसी घोषणा करनेवालोंने यह नहीं सोचा—यदि वह उनके शत्रुके पास होता तो।"

"दूसरा आपको अपना शिरमौर माने—तब आप उसके सुख-दुखकी चिंता करें। यह भलाई नहीं, भलाईका चोगा है।"

"मैं किसी एकके लिए नहीं कहता, चाहे साम्यवादी, समाजवादी या दूसरा कोई भी हो; उन्हें समझ लेना चाहिए कि दूसरों का इस शर्त पर समर्थन करना कि वे उनके पैरों तले चिपटे रहें, स्वतन्त्रताका समर्थन नहीं है।"

"न्याय और दलबन्दी ये दो विरोधी दिशाएं हैं। एक व्यक्ति एक साथ दो दिशाओंमें चलना चाहे, इससे बड़ी भूल और क्या हो सकती है?"

"स्वतन्त्र वह है, जो न्यायके पीछे चलता है। स्वतन्त्र वह है, जो अपने स्वार्थके पीछे नहीं चलता। जिसे अपने स्वार्थ और गुटमें ही ईश्वर-दर्शन होता है, वह परतन्त्र है।"

नहि जहूँ रूप में म्हारो,
नहि लहूँ कष्ट मोतों में ॥
नहि छिदूं धार तलवारां,
नहि भिदूं भल्ल भलकारां।
चहे आयें शत्रु सभीरे,
ध्यावे यों धृति धर धीरे।"

इसमें आत्म-स्वरूप, मोक्ष, संसार-भ्रमण और जड़ तत्त्वकी सहज-सरल व्याख्या मिलती है। वह ठेट दिलके अन्तरतलमें पैठ जाती है। दार्शनिककी नीरस भाषाको कवि किस प्रकार रस-परिपूर्ण बना देता है, उसका यह एक अनुपम उदाहरण है।

आप केवल अध्यात्मवादी कवि ही नहीं हैं, दुनियाकी समस्याओं पर भी आपकी लेखनी अविरल गतिसे चलती है। वर्तमानकी कठिनाइयोंको हल करनेमें आपमें दार्शनिक चिन्तन, साधुका आचरण और कविकी कल्पना—इस त्रिवेणीका अपूर्व संगम होता है।

"मानवता की हत्या करके,
क्या होगा उच्चासन वरके।
आखिर तो चलना है मरके,
ए जननी के लाले तुच्छ स्वार्थ तजो।
आजादी के रखवाले तुच्छ स्वार्थ तजो ॥
अपनी मैं में मतवाले तुच्छ स्वार्थ तजो ॥

मननीय दृष्टिकोण सामने रखते हैं। यह दूसरी बात है कि भूतवादके राग-रंगमें फंसी दुनियां उसे न समझ पाये अथवा समझकर भी न अपना सके, किन्तु वस्तु स्थिति उसके साथ है—

"लोग कहते हैं—जरूरतकी चीजें कम हैं। रोटी नहीं मिलती कपड़ा नहीं मिलता। यह नहीं मिलता, वह नहीं मिलता आदि आदि। मेरा खयाल कुछ और है। मैं मानता हूं कि जरूरतकी चीजें कम नहीं, जरूरतें बहुत बढ़ चली, संघर्ष यह है। इसमेंसे अशान्तिकी चिनगारियां निकलती हैं।"

बाहरी नियन्त्रणमें आपकी विशेष आस्था नहीं है। नियम आत्मामें बैठकर जो असर करता है, उसका शतांश भी वह बाहर रहकर नहीं कर सकता। इसको बार-बार बड़ी बारीकीके साथ समझाते हैं—

"सफलताकी मूल कुंजी जनताकी भावना है। उसका विकास संयममूलक प्रवृत्तियोंके अभ्याससे ही हो सकता है।

नैतिक उत्थान व्यक्ति तक ही सीमित रहा तो उसकी गति मन्द होगी। इसलिए इस दिशामें सामूहिक प्रयास आवश्यक है। यह प्रश्न हो सकता है, अक्सर होता ही है। इसका उत्तर सीधा है। मैं न तो राजनैतिक नेता हूं, न मेरे पास कानून और डण्डेका बल है। मेरे पास आत्मानुशासन है। अगर आपको जचे, तो आप उसे लें।

आप जन-तन्त्रको सफल बनाना चाहते हैं तो आत्मानुशासन सीखें। मेरी भाषामें स्वतन्त्र वही है, जो अधिकसे अधिक

देता है। उसकी मस्तीमें बाधा डाल और सुख-सपनोंको चूर-चूर कर आगे बढ़ता है।

धर्म अमर है। धर्म सदा विजयी है। धर्ममें श्रद्धा और ज्ञान दोनों अपेक्षित हैं। इन भावनाओंका आपने 'अमर रहेगा धर्म हमारा', 'धर्मकी जय हो जय', 'सुज्ञानी दृढधर्मी बन जाओ' शीर्षक कविताओंमें दिलको हिलानेवाला विवेचन किया है।

धर्म पर आक्षेप करनेवालोंको सक्रिय उत्तर देनेके लिए आप धार्मिकोंको जो प्रेरणा देते हैं, उसमें आपकी सत्य-निष्ठा झलक पड़ती है :—

"धार्मिक जन कायर बनजावें,
यह आक्षेप हृदय अकुलावे।
मुख - भजन हो तुरत इसीका,
ऐसी क्रान्ति उठाओ।
सुज्ञानी दृढधर्मी बनजाओ॥
भूली भटकी इस दुनियां को,
सच्ची राह दिखाओ।
सुज्ञानी दृढ धार्मिक बनजाओ॥
मानवता से मनुज कहाए,
मानवता धार्मिकता चाहे।
बिन धार्मिकता जो मानवता,
दानवता दरशाओ।
सुज्ञानी दृढ धार्मिक बन जाओ॥

छिन - छिन में अपने जीवनमें,
मति क्षति लाओ धार्मिकपन में।
धर्मस्थान ही धार्मिकता हित,
मति इम मन बहलाओ।
सुज्ञानी दृढ धार्मिक बनजाओ॥
व्यक्ति-जाति-हित देश-राष्ट्र-हित,
धार्मिकतामें निहित सकल हित।
अहित किते निज कर्म-योग लख,
धर्म - दोष मत गाओ।
सुज्ञानी दृढ धार्मिक बनजाओ॥"

इस प्रकार आपने अपने कवि-जीवनमें प्रत्येक क्षेत्रका स्पर्श किया है। जनसाधारणसे लेकर प्रतिभा-प्रभु व्यक्ति तकको नव-चैतन्यपूर्ण सामग्री दी है। जिससे कंठके स्वर, मस्तिष्कके सुकुमार तन्तु, हृदयके प्रफुल्ल सरोज और आत्माकी अनुभूतिमें सहज चैतन्य भर आता है।

विचारककी वीणाका झङ्कार

विचार सन्तोंका साम्राज्य है। सत्ताका साम्राज्य जमता है, उखड़ जाता है। सन्त-विचार सिर्फ माथेकी उपज नहीं होता। वह द्विजन्मा होता है, मस्तिष्कसे हृदयमें उतरता है, वहां पकनेपर फिर बाहर आता है। उसका शासन इतना मजबूत होता है कि वह मिटाये नहीं मिटता। इसीलिए तो सन्तवाणी अमरवाणी कहलाती है। मैंने उसे वीणाका झंकार कहना इसलिए पसंद किया है कि उससे हृदयका तार झंकृत हो उठता है। माथेकी वाणीमें जहां सौ तर्क-वितर्क उठते हैं, वहां हृदयकी वाणीसे हृदय जुड़ जाता है। देखिए जातियादका कितना गहरा सम्बन्ध है।

आचार्यश्री मेरी दृष्टिमें मस्तिष्कवादी विचारक नहीं हैं। इसलिए मैं पाठकोंसे यह अनुरोध करना नहीं चाहूंगा कि वे

आपके विचारोंकी गहराईको तोलें। मैं सिर्फ इतना ही कहूंगा कि आचार्यश्री के हृदयको समझनेकी चेष्टा करें। आपने अध्यात्म-वादकी उपयोगिताको बड़े मार्मिक शब्दोंमें समझाया है :—

"अपने लिए अपना नियन्त्रण, यही है थोड़ेमें अध्यात्मवाद। दूसरोंके लिए अपना नियन्त्रण करनेवाला—दूसरों पर नियन्त्रण करनेवाला भी दूसरोंको धोखा दे सकता है। किन्तु अपने लिए अपना नियन्त्रण करनेवाला वैसा नहीं कर सकता।"

अध्यात्मवादके बारेमें बड़े बड़े दिमागी लोग भ्रान्त रहते हैं। वे उसे दूसरी दुनियांकी वस्तु मानते हैं। वस्तुस्थिति वैसी नहीं है। अध्यात्मवाद आत्मवादीके लिए जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक एक संसारी प्राणीके लिए है। कारण कि उसके बिना मनुष्यका व्यवहार भी प्रामाणिकतासे चल नहीं सकता।

आपके विचारानुसार भौतिकवाद इसी युगकी देन नहीं है और न उसके बिना दुनियांका काम भी चल सकता। किन्तु उसीका प्राधान्य रहे, यह ठीक नहीं।

भलाई और बुराई दोनों साथ-साथ चलती हैं। यह जगत् न तो कभी बिल्कुल भला बना और न कभी बिल्कुल बुरा। सिर्फ मात्राका तारतम्य होता है। हमारा प्रयत्न ऐसा हो कि भलाई की मात्रा बढ़े। हम यह सोच बैठ जायें कि बुराई आज तक नहीं मिटी तो अब कैसे मिटेगी, यह निराशा है। इसका परिणाम बुराई को सहयोग देना है। हमें पवित्र उद्देश्यके साथ बुराईके विरुद्ध संघर्ष करते रहना चाहिए।

अध्यात्मवाद विवादसे परे है। इसकी चर्चा करते हुए आपने लिखा है :—

"अध्यात्मशब्द मात्रका वाद है, वास्तविक नहीं। वास्तवमें तो वह आत्माकी गति है। वलात् दूसरों पर अपनी संस्कृति या वाद लादनेकी चेष्टाका दूसरा रूप है संघर्ष। मै नहीं चाहता कि ऐसा हो। फिर भी मैं प्रत्येक विचारक व्यक्तिसे यह अनुरोध करूंगा कि वे अध्यात्मवादको अपनाएं। यह किसी देश या जातिका वाद नहीं, आत्माका वाद है। जिसके पास आत्मा है, चैतन्य है, हेयोपादयकी शक्ति है, उसका वाद है, इसलिए उसकी जागृति करना अपने आपको जगाना है।"

आत्म-जागरणकी इस विचारधारामें स्व-पर, जात-पांत, देश-विदेशसे ऊपर रहनेवाले तत्त्वकी सृष्टि होती है। वह अभेद सत्तामें सबको समाहित किये चलता है। उसमें द्वैध नहीं होता। विना उसके संघर्षकी वात ही क्या। भेदकी कल्पना व्यवहारके लिए है। आगे जाकर वह वास्तविक वनजाती है। उससे अहंभाव और जय-पराजयकी कल्पना पैदा होती है। उससे संघर्षका वीज उगता है। फिर युद्ध आदिकी परंपराएँ चलती हैं। इसलिए विश्व-शान्तिकी वातको सोचनेवालोंको सवसे पहले आत्म-जागरणकी वात सोचनी चाहिए। आत्म-जागरणमें श्रद्धा पैदा कर अपने आपको सुधारना चाहिए। धार्मिकका यही कर्त्तव्य है। इस विषयको आपकी लेखनीने वड़ी कुशाग्रतासे छुआ है।

"मनुष्य अपना सुधार नहीं चाहता। समाजका सुधार

चहता है। स्वयंको सुधारे विना समाजका सुधार नहीं होसकता। अपनी बुराईका प्रतिकार किये बिना समाजके सुधारकी बात सोचना धर्मकी मौलिकताको न समझनेका परिणाम है। धम व्यक्तिनिष्ट होता है। वह कहता है—प्रत्येकका सुधार ही समाज का सुधार है।"

आप पर-सुधारसे पहले आत्म-सुधारको आवश्यक समझते हैं। कोरी सुधारकी बातोंसे कुछ बनता नहीं। लोग धर्मके प्रति गाढ़ श्रद्धा दिखाते हैं। उसके स्थायित्व की चिन्ता करते हैं। किन्तु विवेक, मर्यादाको नहीं निभाते। आप इन्हें कड़ी चेतावनी देते हैं :—

"लोगोंको इस बातकी चिन्ता है कि कहीं साम्यवाद आगया तो हमारे धर्म-कम मिट जायेंगे। मैं पूछना चाहता हूं—यह हृदय की बात है या बनावटी? यदि सचमुच चिन्ता है तो संग्रह क्यों? संग्रहका अर्थ है धर्मका नाश, पापका पोषण। दूसरेका पैसा चुराये बिना, अधिकार लूटे बिना पूंजीका केन्द्रीकरण हो नहीं सकता?"

राजनैतिक सत्ताका राष्ट्रकी भौतिक समस्याओंसे सम्बन्ध है। इसलिए धार्मिकों को डरनेकी कोई आवश्यकता नहीं। किसी पार्टीका शासन हो, धर्मका क्या बिगाड़ सकता है। विशुद्ध धर्म न उसके हितोंमें बाधक बनता और न उसको जनताके धार्मिक भावोंमें बाधक बनना चाहिए। धर्मका कहीं भी कुछ मात्रामें विरोध हुआ है, वह विशुद्ध धर्मका नहीं, धर्मके वेषमें पनपनेवाली

राजनीतिका हुआ है। आपने इसे बड़ी दृढ़ताके साथ व्यक्त किया है :—

"धर्म अपनी मर्यादासे दूर हटकर राज्यकी सत्तामें घुल-मिल कर विपसे भी अधिक घातक बन जाता है। यह वाणी धर्मद्रोही व्यक्तियों की है, यह नहीं माना जा सकता, धर्मके महान् प्रवर्तक भगवान् महावीर की वाणीमें भी यही है। धन और राज्यकी सत्तामें विलीन धर्मको विप कहाजाये, इसमें कोई अति-रेक नहीं है।"

धर्मके प्रति धर्माचार्यकी ऐसी कटु आलोचना अध्यात्मके उज्ज्वल पहलू की ओर संकेत करती है। प्रत्येक व्यक्तिको समझना चाहिए कि धर्ममें श्रद्धाका स्थान है, अन्धश्रद्धाका नहीं। आपका किसी वस्तुके प्रति आग्रह नहीं है। आपकी दृष्टि उसके गुणाव-गुणकी परखकी ओर दौड़ती है। आपकी लेखनी न्यायकी उपेक्षा और अन्यायसे समझौता नहीं कर सकती। पत्रकार-सम्मेलनमें आपने बताया :—

"आर्थिक वैपम्यको लेकर जो स्थिति बिगड़ रही है, उसे भी हम दृष्टिसे ओझल नहीं कर सकते। मेरी दृष्टिमें साम्यवाद इसीका परिणाम है।...... लोग मुझसे पूछते हैं—क्या भारतमें साम्य-वाद आयेगा? मैं इसके लिए क्या कहूं? यही कहना पड़ता है—आप बुलायेंगे तो आयेगा, नहीं तो नहीं। जिनके हृदयमें धर्मकी तड़फ है, उसकी रक्षाकी चिन्ता है, वे अर्थ-संग्रह करना छोड़ दें। उनकी भावना अपने आप सफल हो जायेगी। दान करनेके लिए

भी आप संग्रहकी भावना मत रखिए। दुनियां आपके दानकी भूखी नहीं है। उसे आपके संग्रहपर रोष है। यदि पूँजीपति इसे नहीं समझ पाये तो चालू वेग न अणुबमसे रुकेगा, न अस्त्र-शस्त्रोंके वितरण से।..............आप यह मत समझिए कि मैं साम्यवादका समर्थक हूं। मुझे साम्यवाद त्रुटिपूर्ण दिखाई देता है, पूँजीवाद तो है ही।.........राष्ट्रीय पूंजी-संग्रह भी उतना ही बुरा है, जितना व्यक्तिगत। जबतक इच्छाओंको सीमित करनेकी बातका यथेष्ट प्रचार नहीं होगा, तबतक आवश्यकता-पूर्तिके साधनोंका समाजीकरण केवल बाह्य उपचार होगा। व्यक्तिकी स्थिति राष्ट्र लेलेगा। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रका शोषक बन जायगा। ....आर्थिक समानताका सूत्र पूँजीपतियोंको ही अप्रिय लगेगा, किन्तु इच्छा-नियन्त्रणका सूत्र पूँजीपति और गरीब दोनोंको अप्रिय लगेगा। लगे, यह तो रोगका उपचार है। इसमें प्रिय-अप्रिय लगनेका प्रश्न ही नहीं होता।"

ऊपरकी पंक्तियां यह साफ बताती हैं कि लोग कठिनाइयां चाहते नहीं, किन्तु अज्ञानवश उन्हें निमन्त्रण देते हैं। इसीलिए पूर्व-ऋषियोंने बताया है—"अज्ञान ही सबसे बड़ा दुःख है।" यदि मनुष्य वस्तुस्थितिको जानले, श्रद्धापूर्वक मानले तो फिर वह अपने हाथों अपना मार्ग कण्टकाकीर्ण नहीं बना सकता। लोग शान्ति के पिपासु हैं, फिर भी शान्ति मिल नहीं रही है। आपकी भाषा में उसका सरल मार्ग मिलता है :—

"अपनी शान्तिके लिए दूसरेकी शान्तिका अपहरण मत करो

—यही सच्ची शान्ति है। क्षणिक शान्तिके लिए स्थायी शान्तिको खतरेमें मत डालो—इसका नाम है सच्ची शान्ति। शान्तिके लिए अशान्तिको उत्पन्न मत करो—यह है सच्ची शान्ति। शान्तिके इच्छुक हो तो शान्तिके पथपर चलो। यही सच्ची शान्तिका सही रास्ता है।"

आपकी विचारधारामें असीम धार्मिक औदार्य्य है। वर्तमान स्थितिको समन्वित करनेकी क्षमता है। लोक-स्थितिको समझे बिना कोई व्यक्ति व्यवहारदक्ष नहीं बन सकता। एक कविने कहा है—

"काव्य करोतु परिजल्पतु संस्कृतं वा,
सर्वा: कला: समधिगच्छतु वाच्यमाना:।
लोकस्थितिं यदि न वेत्ति यथानुरूप,
सर्वस्य मूर्खनिकरस्य स चक्रवर्ती॥"

आपने अनेकान्त दृष्टिको केवल सिद्धान्तरूपसे ही स्वीकार नहीं किया है, आप अनेकों प्रयोग और शिक्षाएँ उसके सहारे फलित करते हैं। आजके राजनीतिक या वैज्ञानिक जो धर्म पर आस्था नहीं रखते, लोगोंकी दृष्टिमें वर्तमान अनैतिकताके लिए उत्तरदायी हैं। किन्तु आप इस कसौटीको एकान्ततः सही नहीं मानते। 'लन्दन-जैन-कॉन्फ्रेन्सके लिए दिये गये सन्देशमें आपने कहा है :—

"आजके राजनीतिकोंने धर्मको अफीम बताकर जनताके रुखमें परिवर्तन ला दिया। अतएव वर्तमान युग धर्मका उतना

प्यासा नहीं रहा, जितना पहले था। इससे सुधार भी हुआ है, भूल भी। भोगमें त्याग और परिग्रहमें धर्मकी भावना जमी हुई थी, धर्मके नामपर हिंसा होती थी, उससे जनताकी आस्था हटी, यह श्लाघनीय सुधार है। मानव-शरीरमें दानवकी आत्मा उतनी खतरनाक नहीं होती, जितनी खतरनाक धर्मकी पोशाकमें अधर्म की पूजा होती है।

इसके साथ-साथ भौतिक सुख-सुविधाओंको ही जीवनका चरम लक्ष्य मानकर आत्मा और धर्मकी वास्तविकताको भुला बैठे, यह वज्र भूल है।"

युग एक प्रवाह होता है। उसमें बहनेवालोंकी कमी नहीं होती। आचार्य श्री हमें बहुत बार कहा करते हैं :—

"अनुस्रोतगामी होना सहज है। अपनी सत्य श्रद्धाको लिये हुए प्रतिस्रोतमें चले, कष्टोंको सहे, विचलित न हो, उसकी बलिहारी है।"

आप अपने विचारोंके पक्के और अप्रकम्प हैं। जन्म-जयन्ती मनाने पर आपका विश्वास नहीं है। लोगोंने आपकी जन्म जयन्ती मनानेके लिए बहुत प्रार्थनाएं की, किन्तु आपने उसे स्वीकार नहीं किया। आप कहते हैं :—

"जयन्ती किसी विशेष कार्य की हो, अथवा निर्वाण की हो, वह उचित है। निर्वाणके दिन समूचे जीवनका लेखा-जोखा सामने आ जाता है। उसे आदमी देख सकता है, सीख सकता है।"

जो लोग जन्म-जयन्ती मनाते हैं, उनसे आपका कोई विरोध नहीं है। आप कहते हैं :—

"मेरी धारणा ऐसी है। जो मनाते हैं, उनकी अपनी इच्छा।"

आपने धार्मिक जगत्की, जैनोंकी तथा युगकी विभिन्न समस्याओंके विभिन्न पहलुओं पर चेतक प्रकाश डाला है। मैं गागर में सागर भरनेकी कला नहीं जानता। मैं क्यों न आशा करूं कि मेरे पाठकोंमें आपकी विचार-सामग्रीके स्वतन्त्र अध्ययनकी आकांक्षा होगी।

कुशल ग्रन्थकार

प्रत्येक महापुरुषका सर्वाग्रिम या सर्वान्तिम लक्ष्य होता है ज्ञान-विकास। वह आत्माकी अन्तर-प्रेरणासे मिलकर चलता है, आचरणको साथ लिए चलता है, इसलिए उसका दूसरा नाम होता है आत्म-विकास। विकसित व्यक्तियोंको अविकासकी स्थिति सह्य नहीं होती, इसलिए वे अपनी विकासोन्मुख आत्माके भाव दूसरोंमें उंडेलना चाहते हैं। इस सत्प्रेरणाको हजारों शास्त्र-ग्रन्थोंकी रचनाका श्रेय मिला है। 'बालानां बोधवृद्धये', 'शिष्यानुग्रहाय' आदि आदि प्रारम्भ-वाक्योंमें उक्त भावनाके स्फुट दर्शन मिलते हैं।

कविके लिए 'काव्यं यशसे' का क्षेत्र खुला है। किन्तु एक ग्रन्थकारके लिए यह श्लाघनीय नहीं होता। उसकी गति सिर्फ

'परहिताय' होनी चाहिए। आचार्यवरने इसी भावनासे कई ग्रन्थ रचे हैं। उनमें जैन-सिद्धान्त-दीपिका, भिक्षु-न्याय-कर्णिका, शैक्ष-शिक्षा-प्रकरण आदि उल्लेखनीय हैं। जैन-दर्शनके विद्यार्थीके लिए ये अपूर्व उपयोगी हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालयके आशुतोष प्राध्यापक, संस्कृत-विभागके अध्यक्ष डा० सातकडि मुकर्जीने स्वयं मुझसे कई वार कहा—"खेद है कि 'जैन-सिद्धान्त-दीपिका जैसा उपयोगी ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ।"

उक्त ग्रन्थोंका कलेवर मध्यम परिमाणका है। फिर भी उनमें अवश्य जाननेयोग्य तत्त्वोंका सुन्दर संकलन है। मुझे विश्वास है, ये कृतियां आपके कृतित्वकी अमर प्रतीक होंगी।

१—ये उद्गार उस समयके हैं, जबकि जैन-सिद्धान्त दीपिका प्रकाशित नहीं थी।

सफल प्रेरणा

आपकी वृत्तियां अपने तक ही सीमित नहीं रहतीं। उनका समूचे संघ पर प्रभाव पड़ता है। पुराने जमानेमें लोग कहते थे 'यथाराजा तथाप्रजा'। आजकी भाषामें कहूं तो 'यथा नेता तथानुगः।' जो बीत गई, उससे क्या। राजा रहे नहीं, तब 'जैसा राजा वैसी प्रजाका' का क्या अर्थ बने? आजके आदमीको आज की भाषामें बोलना चाहिये। 'जैसा नेता वैसा अनुयायी' यह ठीक है। आपका नेतृत्व अपने अनुयायियों पर असर कैसे न करे?

आपकी सक्रिय शिक्षासे प्रेरणा पा साधु-संघने भी साहित्य-निर्माणके पुण्य कार्यमें बड़ी तत्परतासे हाथ बढ़ाया है। समयके परिवर्तनने प्राकृत, संस्कृत आदि प्राच्य भाषाओंका स्थान हिन्दी को दिया है। अब वह राष्ट्रभाषाके पद पर आसीन है।

जैन-विद्वानोंने सदासे ही लोक-भाषामें कहा या लिखा है। भगवान् महावीरने लोक-भाषाके माध्यमसे ही अपना सन्देश जनताके कानों तक पहुंचाया था। उसकी चर्चामें एक आचार्यने लिखा है :—

"बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां, नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः॥"

आपके नेतृत्वमें हिन्दी भाषामें जैन-साहित्य-निर्माणका महान् कार्य प्रस्तुत है। हमें आशा है, थोड़े वर्षोंमें जैन-साहित्य हिन्दी संसारमें प्रतिष्ठापूर्ण स्थान पा लेगा। प्राच्य-साहित्य-निर्माण कार्यमें जैन-साधुओंका इतिहास बड़ा उज्ज्वल है। आपके नेतृत्व में वह परम्परा स्मृतिकी वस्तु नहीं बनेगी।

प्रश्नोत्तर

तत्त्व-चर्चा आपकी सार्वजनिक चर्याका एक प्रमुख अङ्ग है। व्याख्यान, साधारण बातचीत और प्रश्नोत्तरके रूपमें वह चलती रहती है। प्रश्न करनेवालोंका तांता सा जुड़ा रहता है। 'विश्व-शान्ति-सन्देश' के बाहर आते ही वह प्रश्नोंकी भूमि बन गया। भारत और योरोपके विचारकों द्वारा इसके बारेमें बहुत कुछ पूछा गया। आपने उन सबका समाधान किया।

लन्दनसे जैन-विद्वान् हर्बर्ट वॅरेनके प्रश्न आये। आपने उनको बड़े मार्मिक ढंगसे समझाया। आपके प्रश्नोत्तरोंकी संकलना की जाये तो एक बृहत्तर पुस्तक बन सकती है। इसलिए मैं इस विषयको अधिक लम्बा नहीं खींचूंगा। सिर्फ आपके उत्तर देनेकी शैली और दो चार प्रसंगोंको बताकर इससे क्षमा चाहूंगा।

आप उत्तर देते समय आवेशमें नहीं आते और थोड़े शब्दों में उत्तर देते हैं। ये दोनों बातें आपने अपने पूर्व-आचार्य श्री कालुगणीसे सीखी—ऐसा कई बार आप कहा करते हैं। उत्तर देते समय आवेशमें आनेवाला 'आपा' खो बैठता है। अधिक बोलनेवाला उलझ जाता है। इसलिए उत्तरदाताके लिए अनावेश और संक्षेप ये दोनों गुण आदरणीय हैं। प्रश्नकर्ता स्वतन्त्र होता है। वह कटु बनकर आये तो भी उसे मृदु बना देना, इसमें उत्तरदाताकी सफलता है।

प्रो० ए० एस० बी० पन्तने अपने एक लेखमें आपसे हुए प्रश्नोत्तरोंकी स्थितिका वर्णन करते हुए लिखा—

*आचार्य महाराज हमारी आलोचनाओंसे उत्तेजित नहीं हुए। उन्होंने पहले हमारे दृष्टिकोणको समझनेका एवं बादमें उसका उत्तर देनेका प्रयास किया। यह एक ऐसा गुण है, जो देशके विरले ही धर्माचार्योंमें मिलता है। उनमेंसे बहुतसे तो भावनाओंके असहिष्णु हैं।

---

* The Acharya Maharaj was not upset by our criticisms. He tried to understand our view point and then answer the same. This is a rare quality to be found in the religions of the land. Many of them are intolerant of supposition. They can brook of no argument. But Sri Pujyaji, in all our discussions with him never talked disparagingly about other religions, but only maintained with telling arguments his own point of view."

(विवरण पत्रिका, २६ जुलाई, १९५१)
वर्ष १ संख्या ३ पृष्ठ ३

वे किसी भी युक्ति अथवा तर्कको सहन नहीं कर सकते। लेकिन श्री पूज्यजी महाराजने हमारे धार्मिक प्रसंगमें कभी भी दूसरे मतके दोष नहीं निकाले और न अन्य धर्मके बारेमें निन्दात्मक बातें कीं, लेकिन तर्क एवं युक्तिके साथ अपना दृष्टिकोण ही रक्खा।"

इस प्रकरणमें आपकी अपनी एक निजी विशेषता है। वह है प्रश्नकर्ताको पराजित करनेकी भावना न रखना। प्रश्नकर्ता कैसी भी भावना लेकर आये, उत्तरदाताको उसे हर हालतमें क्षमा करना चाहिए। उभयपक्षीय वितण्डा और जय-पराजयकी भावना से शत्रु-भाव प्रबल होता है। निष्प्रयोजन शत्रु बनाने तथा शत्रुता-पोषण-वृत्तिको बढ़ावा देनेका अर्थ क्या? उत्तरदाताका कर्त्तव्य है—समझसकनेवाले को समझाये, वितण्डा करनेवालेसे मौन रक्खे, किन्तु वैमनस्य न बढ़ावे। आपकी इस प्रवृत्तिसे हजारों व्यक्ति आपकी ओर झुके हैं।

आचार्यश्री अपने प्रश्नकर्ताको जिस शीघ्रतासे सुलझानेका प्रयत्न करते हैं, उसमें आपकी स्पष्टता, आत्मनिष्ठा और निर्भीकता तैर आती है।

भारतके सर्वोच्च न्यायालयके मुख्य न्यायाधीश पी० डबल्यू स्पेंशने आपसे पूछा—क्या राजनीति और धर्म एक ही है?

आपने उत्तरमें कहा—नहीं।

स्पेंश—कैसे?

आचार्यश्री—राजनीति धर्मसापेक्ष है, किन्तु समूची राजनीति धर्म नहीं है।

स्पेंश—धर्मसे अन्याय मिटता है, राजनीतिसे भी, फिर इनमें अन्तर क्यों ?

आचार्यश्री—राजनीतिमें स्वार्थ रहता है, बल प्रयोग होता है। बल-प्रयोगसे अन्याय छुड़वाना भी हिंसा है। यहींसे राजनीति और धर्म दो होते चले जाते हैं।

स्पेंश—विश्व-शान्ति कैसे हो सकती है ? युद्ध कैसे मिट सकता है ?

आचार्यश्री—स्वार्थ, अनधिकारपूर्ण प्रभुत्व छोड़नेसे दोनों हो सकते हैं। यह हो कैसे, आजका लालची मनुष्य अप-स्वार्थ तक छोड़नेको तैयार नहीं है।

स्पेंश—आप सत्यकी मूर्ति हैं, फिर गवाही क्यों नहीं देते ?

आचार्यश्री—हमारे द्वारा किसी पक्षको भी कष्ट नहीं होना चाहिए।

लेडी स्पेंश—सांसारिक उपकारको आप धर्मसे पृथक् कैसे बताते हैं ?

आचार्यश्री—जिससे आत्म-विकास न बने, केवल भौतिक लाभमात्र हो, उसको आत्म-धर्म नहीं माना जा सकता।

हंगरीके सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा प्राच्य संस्कृतिविषयक उच्च-शिक्षा-कौन्सिलके प्रतिष्ठाता एवं सञ्चालक डा० फेलिक्स वाल्यी के विचित्र प्रश्नोंके उत्तर आनन्ददायक होनेके साथ-साथ ज्ञान-वर्धक भी हैं :—

फेलिक्स—क्या आत्मसाधनाके लिए केवल जैनसूत्रोंका ज्ञान ही यथेष्ट है ?

आचार्यश्री—हां, यथेष्ट है, परन्तु व्यावहारिक ज्ञानकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

फेलिक्स—काम - वासना को जीतनेके क्रियात्मक उपाय क्या हैं ?

आचार्यश्री—काम-वासना पर विजय प्राप्त करनेके क्रियात्मक उपाय ये हैं :—

(१) काम-वासना जनक बातें न करना।

(२) दृष्टि-संयम रखना।

(३) अधिक न खाना।

(४) मादक द्रव्य—शराब, नशीली वस्तुओं एवं उत्तेजक पदार्थोंका सेवन न करना।

(५) मनको स्वाध्याय, आदि सत्प्रवृत्तियों में लगाये रखना।

(६) आत्मा और शरीरके भेदका चिन्तन करते रहना।

(७) योगका अभ्यास करना।

फेलिक्स—क्या साधु स्त्रीसंगसे दूर रह कर पूर्ण सन्तुष्ट हैं ?

आचार्यश्री—संयममें जो आनन्द है, वह स्त्री-संसर्गसे कभी प्राप्त नहीं हो सकता। [साधु अपने आदर्शोंपर चलते हुए पूर्ण प्रसन्न हैं।

फेलिक्स—क्या जैन-सम्प्रदायमें दम्पतिके लिए शील-पालन आवश्यक समझा जाता है ? क्या विवाह धार्मिक संस्कार माना जाता है ?

आचार्यश्री—यद्यपि गृहस्थके लिए पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन अनिवार्य नहीं है, फिर भी पर-स्त्रीसे पूर्ण बचाव और अपनी स्त्रीके साथ काम-सेवनकी मर्यादा स्थिर करना आवश्यक है। जैन-दृष्टिकोणसे विवाह धार्मिक संस्कार नहीं है।

इस प्रकार भारतके प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० के० जी० रामाराव*, आस्ट्रियाके पत्रकार डा० हर्बर्ट टीसी, लन्दनके जैन विद्वान् हर्बर्ट वैरेन आदि विशेषज्ञोंके प्रश्नोंके उत्तर न पाकर जिज्ञासु पाठक अवश्य कुछ असन्तुष्ट होंगे, किन्तु इस झांकीमें मैं पूर्णता की आशा ही कब करा पाया हूं। ऊपरकी पंक्तियोंमें थोड़ेसे प्रश्नोत्तर ज्योंके त्यों रख दिये गये हैं। विचारक वर्ग स्वयं इनका मूल्य आंक लेंगे।

---

* देखो तत्त्वचर्चा (आदर्श-साहित्य-संघ द्वारा प्रकाशित)

जन-सम्पर्क

आपके जीवनका यह एक रहस्यपूर्ण अध्याय है। इसको लेकर विरोधी क्षेत्रोंमें कटु, कटुतम आलोचनाएं और टीका-टिप्पणियां हुई हैं। न आपने उनका विशेष समाधान किया और न उन आलोचकोंने इसका तत्त्व छूनेका विशेष प्रयत्न किया। आपके सम्पर्कमें आनेवाले व्यक्ति शिक्षा, सत्ता, न्याय और विभिन्न पार्टियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। सैकड़ों, हजारों व्यक्ति आये, दो चार पांच दिन सम्पर्कमें रहे, जो कुछ देखा, उसे उन्होंने लिखा अथवा कहा। कारण क्या है? पता नहीं, कई व्यक्ति इससे झल्ला उठे। उन्होंने आचार्यश्री पर, श्रावक वर्ग पर और आनेवाले व्यक्तियों पर बड़े-बड़े आरोप लगाये—जैसे आचार्यजी को बड़प्पनकी भूख है, वे दूसरोंके पाससे प्रमाण-पत्र लेना चाहते

हैं, श्रावक वर्गके पास धन बहुत है, वह अपने आचार्यजीकी प्रशंसा सुननेके लिए धनके बल पर टानलाता है, आनेवाले धनके लालचसे आते हैं, उन्हें खुश करनेके लिए अथवा सभ्यताके नाते दो-चार अच्छे शब्द कह देते हैं, आदि आदि।

आखिर इसका बीज क्या है? यह कार्य क्यों चला और चल रहा है? आप इसे किस दृष्टिसे देखते हैं? इस रहस्यपूर्ण मुद्दे पर मैं मेरी स्फुट धारण रखनेकी चेष्टा करूंगा।

आचार्यश्रीका नेतृत्व सम्हालनेके तुरन्त बादसे यह ध्यान रहा है कि हमें अपने पूर्वाचार्यों द्वारा विरासतके रूपमें जो संगठन और चैतन्य मिला है, उसका पूरा-पूरा उपयोग होना चाहिए। समय-समय पर इस भावनाको आप साधु-संघ तथा श्रावक-संघ के सामने व्यक्त करते रहे। आपने अनेकों बार श्रावकोंसे कहा:

"तुम स्वार्थी मत बने रहो। तुम्हारे पास जो कुछ है, वह दूसरोंको बताओ, वे लेना चाहें तो दो। इसमें तुम्हारा हित है और उनका भी।"

इससे श्रावकोंको बल मिला। उन्होंने प्रचार-कार्यकी तालिका बनाई। उसमें एक कार्यक्रम यह भी रखा कि विशिष्ट व्यक्तियों से सम्पर्क-साधना और उन्हें आचार्यश्रीके सम्पर्कमें भी लाना। योजनाके अनुसार कार्य शुरू होगया। अकल्पित सफलता मिली। परिधिसे बाहर रहनेवालोंको आश्चर्यसे अधिक सन्देह होने लगा। उनका दृष्टिबिन्दु यहीं केन्द्रित रहा कि यह सब प्रलोभनके सहारे हो रहा है, नहीं तो यकायक यह परिवर्तन कैसे आता

यह ठीक है, आप विशिष्ट व्यक्तियों के सम्पर्क को मर्यादा के प्रतिकूल नहीं मानते हैं। हिंसक शक्तियोंके प्रतिरोधमें अहिंसक शक्तियां मिलजुलकर कार्य करें, यह आपकी सार्वदिक इच्छा रहती है। अहिंसाका प्रभाव बढ़े, इसी भावनासे आप किसीको समझाते हैं, किसीसे विचार-विनिमय करते हैं और किसीको उसका सार्वभौम प्रचार करनेकी प्रेरणा देते हैं।

आप पैदल विहार करते हैं। इसलिए आपको सुदूर-क्षेत्रोंतक पहुंचनेमें कठिनाई होती है। दूसरे लोग सवारीपर बैठते हैं। वे शीघ्र आ-जा सकते हैं। इसलिए श्रावक लोग सारी परिस्थिति बता उन्हें निमन्त्रण देते हैं। अगर वे निमन्त्रण स्वीकार करें तो उन्हें आचार्यश्रीके सम्पर्कमें ले आते हैं। इसमें आपत्ति जैसी कोई बात लगती नहीं। प्रलोभन देकर लाते हैं, चापलूसी करते हैं, प्रमाणपत्र लिखवाते हैं आदि आदि बातें निर्मूल हैं। ये हिंसा-भावनासे गढ़ी गई हैं। आचार्यश्री साधन-शुद्धिपर हमेशा बल देते हैं। श्रावक लोग आगन्तुक व्यक्तियोंका आतिथ्य करते हैं, उसे कोई प्रलोभन कहे तो भले ही कहे।

कुछ ऐसा लगता है कि हिंसक शक्तियोंकी तरह अहिंसक शक्तियां मिलजुलकर कार्य नहीं कर सकतीं। अहिंसामें प्रेम है, बन्धुता है, फिर भी एकत्व क्यों नहीं, यह एक गुत्थी है। आचार्यश्रीने २३ जुलाई ५१ को दिल्लीमें एक प्रवचनमें कहा :—

"क्या कारण है कि चार चोरोंका तो एक संगठन हो सकता है पर चार भद्र पुरुष चतुष्कोणके चार बिन्दुओंकी तरह अलग-

अलग ही रहते हैं। बुराईकी ताकतोंसे लोहा लेनेके लिए यह आवश्यक है कि भले आदमियोंका भी सुदृढ़ संगठन हो।"

राष्ट्रके अन्य अहिंसाप्रेमी व्यक्ति भी इसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। आचार्यश्रीके साथ वार्तालाप करते हुए राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादने कहा—"यह अच्छा हो कि सर्वोदय समाज और अणुव्रती संघ मिलजुलकर कार्य करें।" आपने इनकी इस भावनाका स्वागत करते हुए कहा—"अहिंसक समाजोंके लिए यह बहुत आवश्यक है। कारणकि जबतक हम अहिंसाके लिए एक शक्तिशाली जनमत तैयार नहीं करलेंगे, तबतक अहिंसाके द्वारा हिंसक शक्तियोंको प्रभावित नही करसकेंगे।"

आपके सम्पर्कमें आनेवाले व्यक्तियोंकी संख्या-सूची देकर मैं पुस्तकके पृष्ठ बढ़ाना नहीं चाहता। मैं सिर्फ इतनाही बताऊंगा कि जो व्यक्ति आपके निकट आये, उनमें निन्यानवे प्रतिशत आपकी कठोर साधना, अगाध पाण्डित्य, सर्वतोमुखी प्रतिभा, अहिंसा-प्रसारकी तीव्र भावना और सहृदयतासे अत्यन्त प्रभावित हुए हैं।

लन्दनके ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालयके संस्कृत-अध्यापक डा० एफ० डबल्यू-टमास एम० ए० पी० एच०डी, सी०आई० ई० जैन-धर्मकी जानकारीके लिए आचार्यश्रीकी सेवामें आये। कई दिन रहे। जाते समय उन्होंने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा:—

* "चाँदासरमें तेरापन्थी समाजसे मिलकर, आचार्य महाराजके

---

* It has been a great satisfaction to me to be able

दर्शनका सौभाग्य लाभ कर, इतने विद्वान् व विनीत साधु-साध्वियोंसे मिलकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। साधु व साध्वियोंकी धर्म पर दृढ़ आस्था, सत्य-निष्ठा, गृहस्थोंका भक्तिभाव विसंवाद रहित है। तेरापन्थी गण पर जैन-धर्मके त्याग, वैराग्यका सम्पूर्ण पालक होनेके कारण, सांसारिक कार्योंसे सम्पूर्ण निर्लिप्त रहनेके कारण, दूसरोंके प्रति समवेदनाराहित्यके आक्षेपका मौका मिलता है। परन्तु उनके अहिंसाके महान् तत्त्वके स्वरूपसे और खासकर उनकी कार्यकारी दयालुता व मैत्री-भावसे ही वह आक्षेप सर्वथा असत्य हो जाता है।"

आचार्यश्रीका व्यक्तित्व एक महान् रश्मिपुञ्ज है। इसमें लाखों व्यक्तियोंको आलोक देनेकी सामर्थ्य है। जैसा कि भारत में नैतिक और सामाजिक स्वास्थ्य-संघकी प्रधान संघटनकर्त्री कुमारी मेलिसेंट सेफेल्ने सरदारशहरमें भाषण करतेहुए जनताको सम्बोधित कर कहा:—

---

to pay a visit to the Terapanthi Community in Bidasar, to have the honour of Darsan of the Acharya Maharaj and to meet so many learned and devout Sadhus and Sadhwis..................The conviction and sincerity of the Sadhus and Sadhwis and the devotion of the laity are beyond question. The strict adherance of the Terapanthis to Jain principles of asceticism and abstention from mixing in worldly affairs gives occasion for criticism on the ground of unfeelingness which however are belied by the very nature of their great principale of Ahimsa and by their practical kindness and friendliness."

"एक चिरागसे हजारों चिराग जलाये जासकते हैं। आचार्यश्रीके उपदेश तथा उदाहरणरूपी जगमगाते चिरागसे अनेक पवित्र जीवन प्रकाश प्राप्त कर सकते हैं। आपका शान्ति और बन्धुत्वका आदर्श सम्पूर्ण भारतवर्षमें फैले।"

शान्तिका प्रसार आपका प्रथम या चरम लक्ष्य है। किन्तु उसके लिए साधना जरूरी है, ऐसा आपका विश्वास है। शान्ति के अनुरूप आदर्श और व्यवहार बनाये विना वह मिल नहीं सकती। इसीलिए उच्च भूमिका पर फलित होनेवाली आपकी साधना दूसरोंके लिए स्वयंसिद्ध आकर्षण है। एक बार भी आपकी साधनापूर्ण दशाका अवलोकन करनेवाला अपने आपको धन्य मानता है।

भारतके सर्वोच्च न्यायालयके मुख्य न्यायाधीश सर पेट्रिक स्पेंश ने आचार्यश्री से हुए अपने सम्पर्कका उल्लेख करते हुए कहा :—

"मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि मेरे जीवनमें ऐसा सुन्दर सप्ताह गुजरेगा।"

उन्होंने विदा होनेके पूर्व बड़े आग्रहके साथ आचार्यश्री से मंगल-पाठ सुना। इसके पूर्व उन्होंने एक वक्तव्य देतेहुए कहा :—

* "ये साधु-साध्वियां आजके कष्टपूर्ण समयमें संसारकी भलाई और शान्तिके लिए कार्य कर रहे हैं, यह देख मुझे बड़ा सन्तोष है।

---

* "I am profoundly satisfied that in the present troublous times these Sadhus and Sadhwis are working for the good and peace of the world. .... The example set up by His Holiness, His Sadhus and Sadhvis is one

…………आचार्यश्री और उनके साधु-साध्वी जो उदाहरण प्रस्तुत करते है, यदि लोग उसका अनुकरण करें तो संसारकी सब कठिनाइयां दूर हो जांय।

सम्भवत: मैं १५ मासके अन्दर-अन्दर भारतसे प्रस्थान करूंगा। ऐसा लगता है कि इस देशमें बड़े-बड़े परिवर्तन आनेवाले हैं। यदि लोग शान्तिसे और मेल-जोलसे रहते हुए गुरु महाराजके आदर्शों पर चलेंगे तो मुझे पूरा विश्वास है कि उनका भविष्य उज्ज्वल होगा।

मुझे अपनी यह यात्रा लम्बे समय तक याद रहेगी। गुरु महाराज जो काम कर रहे हैं, उसमें और संघके उच्च नैतिक आदर्शोंमें मुझे सदा अनुराग रहेगा।"

…आपमें श्रद्धा और बुद्धिका सुन्दर समन्वय है। अपने लिए जहां श्रद्धाका प्राधान्य है, वहां दूसरोंके लिए बुद्धिका। सिर्फ

---

which, if followed by the people, would put an end to all the troubles of the world.

Probably I shall have to leave India within the next 15 months and great changes are in store for this country. I profoundly believe in the future of this country if the people learn to live in peace harmony and follow the ideals weich Guru Maharaj stands for.

I shall long remember my visit and shall always be interested in the work being done by Guru Maharaj and in the high moral standard of the sect."

(विवरण-पत्रिका, अप्रैल १९४७, पृष्ठ ११४)

वर्ष ८ अंक ४

दूसरों पर प्रभाव डालनेके लिए बुद्धि नहीं होनी चाहिए। किन्तु यह सही है कि नुकीली बुद्धिके बिना प्रभाव पड़ता भी नहीं। आप अपने प्रति अटल हैं। आत्म-विश्वास अटल है। फिर भी आप अपनेको युक्तिसे दूर नहीं रखते।

युक्तप्रान्तीय कांग्रेसके उपाध्यक्ष, केन्द्रीय विधान-परिषद्के सदस्य अलगूराय शास्त्रीने आपके सम्पर्ककी चर्चा करते हुए लिखा है :—

"मैंने तेरापन्थी साधुओंके अनेक कलापूर्ण काम देखे। जैन-दर्शन के विषयमें मैंने पहलेसे ही कुछ सुन रक्खा था और अब करीब २० वर्षसे जैन-धर्मकी गम्भीरतासे पूर्ण प्रभावित हूं। कितना बड़ा पांडित्य हमें यहां देखनेको मिला, इसका वर्णन करना असंभव सा है।......

मैं एक वैज्ञानिक समाजको माननेवाला व्यक्ति हूं, प्रत्येक बातको वैज्ञानिक ढंगसे देखता हूं। आचार्यजीकी आत्मा कितनी ऊंची है, वे व्यवहारकी बात करके भी परमार्थकी ओर जाते हैं। अपने आदर्श से नीचे बिल्कुल नहीं उतरते, इसका मैंने पूर्ण अनुभव किया। भारत एक धर्मपरायण देश है, इसमें ऐसे उपदेशोंकी आवश्यकता है। इन उपदेशोंके द्वारा राष्ट्रको आसानीसे ऊंचा उठाया जा सकता है।"

प्रो० सुशीलचन्द्र गुहा एम० ए० बी० एल० ने 'मेरी राजगढ़ यात्रा' शीर्षक निबन्धमें लिखा है :—

* "सूक्ष्मतम दार्शनिक प्रश्नोंको विभिन्न रूपसे समझानेकी एवं

---

* His Holiness .... has wonderful power of analysing the subtlest philosophical problems and of

विभिन्न दार्शनिक विचारधारा सम्बन्धी विचारोंका समुचित समाधान करनेकी आपकी शक्ति अद्भुत है। जब मैंने पूज्यजी महाराजका ध्यान बौद्ध-विचारधारा—आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं और मनसे परे कुछ नहीं, की ओर आकर्षित किया तो उन्होंने तुरन्त प्रत्युत्तर दिया—

---

setting at rest the controversies in phylosophical Speculation. When I drew the attention of His Holines to the Buddist conception that nothing like the Soul and nothing beyond the Mind could be found in the human system, His Holiness very sharply replied that there was no confilct there, as the mind which was the thinking apparatus in the human system, might be taken as identical with the soul, a quality of which was consciousness. When His Holiness was confronted with the vedantic theory of the unity of the pramatma, His Holiness observed that when the liberated souls shone out brightly, side by side, like as many luminous bodies a person looking at the adjacent luminous bodien from a great distance might not notice their multiplicity and even, on the contrary, entertain an idea of their unity, which was only illusory and not real, when faced with the possibility of the existence of the Bheda-Buddhi, that is the discriminating knowledge that X is X and not Y or Z, His Holiness observed that as the liberated souls were similar in quality, there could not be any such Bheda-Buddhi in the liberated souls. In addition to His scholarship and loftiness of moral and spritual character, His Holiness possesses splendid eloquence in his mother tongue. He daily addresses hundreds of his disciples,

'इसमें कोई विशेष बात नहीं, क्योंकि मनका जोकि मानवीय व्यवस्थामें विचार-शक्ति उत्पन्न करता है; आत्मा, जिसका गुण चेतनता है, के साथ अभिन्नरूपसे सम्बन्ध है।' जब पूज्यजी महाराजके सामने एकेश्वरवादका वेदान्तिक सिद्धान्त रक्खा गया तो उन्होंने बतलाया कि जिस प्रकार चमकते हुए पदार्थोंका समूह पास-पास होनेसे दूरसे देखनेमें एक मालूम होता है परन्तु वह वास्तविकता नहीं, भ्रम है। उसी प्रकार मूल आत्माएं प्रकाशयुक्त होनेसे चमकते पदार्थोंके समूहकी तरह देखनेमें एक मालूम पड़ती है, पर वास्तवमें ऐसा नहीं। जब उनको मोक्ष-प्राप्तिके बाद जीवनकी एवं मंद-वृद्धि—उचितानुचित

---

including the Sadhus. Sadhvis and the laymen in an impressive way on the main tenets of Jainism. Besides, His Holiness has wonderful memory. I found His Holiness reciting and explaining the Ramayana, every night, before a vast gathering of men and women who must have undoubtedly gained much ethical and spritual knowledge during the Chaturmasya of His Holiness.

'Although I had a mind to stay longer with His Holiness, I had to come away hurriedly after a week, when reports of communal troubles reached me from Bengal. When I took leave of His Holiness I mentally uttered "Gachchhami Punardarsanaya" (I am going to unite again). I have no doubt that this is the attitude of every visitor of His Holiness."

(विवरण-पत्रिका, ९ अगस्त, १९५१)

वर्ष १, संख्या ५ पृष्ठ ५

जाननेका ज्ञान कि 'क' क है ग या प नहीं, की सम्भावनाके विषयमें पूछा गया तो उन्होंने उत्तर दिया कि मुक्त आत्माएं गुणमें एक समान हैं, अतः ऐसी भेद-बुद्धि उनमें नहीं रह सकती। आचार्यश्रीमें विद्वत्ता, नैतिक एवं आध्यात्मिक विचार-शक्ति तथा चारित्रकी उच्चताके साथ-साथ अपनी मातृभाषामें भाषण देनेकी प्रखर शक्ति है। वे हमेशा सैकड़ों मनुष्योंके बीच, जिनमें साधु-साध्वियां, श्रावक-श्राविकाएं एव अन्य भी होते हैं, जैन-धर्मके मुख्य तत्त्वों पर प्रभावोत्पादक भाषण करते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी स्मरण-शक्ति भी अद्भुत है। मैंने पूज्यजी महाराजको चातुर्मासमें रात्रिके समय विशाल जनसमूहमें—जोकि निःसन्देहरूपसे नैतिक एव आध्यात्मिक ज्ञानको प्राप्त करते हैं, रामायणका कण्ठस्थ पाठ करते सुना है।

यद्यपि मेरा विचार पूज्यजी महाराजके साथ कुछ दिन और रहने का था पर बंगालमें साम्प्रदायिक अशान्तिके समाचार आनेसे एक सप्ताह बाद शीघ्र ही जाना पड़ा। जानेके समय मैंने मनमें सोचा—मैं आपके पुनः दर्शनोंके लिए आ रहा हूं। मुझे इसमें सन्देह नहीं कि आचार्यश्री के दर्शन करनेवालों—सभी सज्जनोंके मनमें ऐसी ही भावना रहती है।"

धर्मक्षेत्रमें सम्प्रदायवादकी भीषण आग जल रही है। वह इसीलिए कि धार्मिक व्यक्ति समभावी नहीं रहे। समभाव जीवन की सार्वभौम सत्ता है। वह विना कुछ किये दूसरोंको आत्मसात् कर लेती है। किन्तु जात-पांत आदिके छोटे-छोटे बन्धनोंमें बंध कर आदमी अपनी असीमताको खो बैठता है।

विषमता हलाहल जहर है। उसकी एक रेखा कला, सौन्दर्य और साधनाको निर्जीव बना देती है। वह कला, वह सौन्दर्य और वह साधना मौलिक होती है, जिसका उत्स होता है सम-भाव। आप योगीराज हैं। 'समत्वं योग उच्चते' की योग-पद्धतिसे आपका जीवन छलाछल भरा है।

भारतीय संस्कृति और इतिहासके प्रसिद्ध विद्वान् डा० कालीदास नाग आचार्यश्रीके दर्शन कर जो जान सके, उसे उन्हींके शब्दों* में देखिये:—

"आचार्यश्री रास्तेके एक ओर वेदीपर बैठके धर्मोपदेश कर रहे थे और कितने ही श्रोता उनकी वाणी सुननेके लिए आये थे। उनमें केवल सम्प्रदायके लोग ही नहीं बल्कि सब धर्मोंके लोग थे। मुसलमान भी थे। साधुकी वाणी सबके लिए है। साधु-सन्त यही करते आये हैं।

उनकी साधना-प्रणाली और कला-कारीगरी देखकर भी मैं मुग्ध हुआ था। केवल सत्यकी ही नहीं बल्कि सौन्दर्यकी साधना भी साथ साथ चल रही है। मैंने वहां राजस्थानी भाषामें कविताएं भी सुनीं उनसे भी मुझे बहुत आनन्द हुआ और मैं चाहता हूं कि आप राजस्थानी संस्कृतिका परिचय इधर बंगालमें भी दें।"

अन्तर-दृष्टिवाले व्यक्तियोंका आकर्षणकेन्द्र बाहरी वस्तुजात नहीं होता। उन्हें ललचानेवाली कोई वस्तु होती है तो वह होती है सदाचारपूर्ण साधना। आचार्यवर इसके महान् धनी हैं।

---

* जैन भारती वर्ष ११ अंक १, जनवरी १९५०

प्रो० तान-युन-शान, अध्यक्ष चीन भवन, शान्तिनिकेतनने आचार्यश्रीके दर्शन कर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहाः—

"मैं जयपुरमें अबसे ५ वर्ष पूर्व भी आया था और अब दूसरी बार श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थके आचार्यश्रीके दर्शनार्थ आया हूं। मुझे यहां की सुन्दर सड़कों, चौड़े रास्तों व खूबसूरत इमारतोंने आकर्षित नहीं किया, बल्कि आचार्यश्री तुलसीगणीके सदाचरणयुक्त महान् कार्योंने अत्यन्त प्रभावित किया।

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थ सम्प्रदायके साधु बड़ी कठिन तपस्या का जीवन बिताते हैं। उनका जीवन परम पवित्र और सरल है। जहां तक मैं जानता हूं, मैंने किसी भी धर्मके अनुयायियोंको इतनी कठिन प्रतिज्ञाओंका पालन करते नहीं देखा। इस सम्प्रदायके साधु-साध्वी कला-कार्यमें भी स्तुत्य हैं। भिक्षापात्र, हस्तलिखित धार्मिक ग्रन्थ, रजोहरण आदि कलामय वस्तुओंको देखकर व्यवसायी कलाकारों को भी नत-मस्तक होना पड़ता है।"

यहां (जयपुर) से जानेके कुछ समय बाद प्रोफेसर तानने शान्तिवादी सम्मेलनके सदस्योंको टी-पार्टी दी। तब वार्तालाप के क्रममें उन्होंने बतायाः—

हमारे यहां चार प्रकारके पुरुष माने गये हैं :—

प्रथम—मनसे भी शुद्ध और शरीरसे भी शुद्ध।

द्वितीय—मनसे शुद्ध, शरीरसे अशुद्ध।

तृतीय—मनसे अशुद्ध और शरीरसे शुद्ध।

चतुर्थ—मनसे अशुद्ध और शरीरसे भी अशुद्ध।

"हमने जयपुरमें प्रथम श्रेणीके पुरुषोंको देखा।"

आचार्यवर एक ऐसे धर्म-शासनके नेता हैं, जो समताका पूर्ण प्रतीक है। दो शताब्दीसे एकरूपमें चलनेवाली इस साम्य-पूर्ण पद्धतिका अध्ययन कर कोई भी समताप्रेमी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

सुप्रसिद्ध समाजवादी नेता जयप्रकाशनारायणने तेरापन्थ संस्थाके मूलभूत सिद्धान्तों और साधुओंकी सर्वतः स्वावलम्बी जीवन-प्रणालीसे परिचित होकर कहा—

"एकके लिए सब और सबके लिए एकका सिद्धान्त तो समाजवाद का ही सिद्धान्त है। तेरापन्थी साधु-संस्थाका संगठन बहुत ही कठिन समाजवादी सिद्धान्तोंके आधार पर है। हिन्दू और जैन-धर्ममें जो अन्यान्य संस्थाएं हैं, उनके बड़े-बड़े मठ और असंख्य धन-वैभव है। उनकी तुलनामें यह संस्था बहुत ही उच्चकोटिकी है। परन्तु हम साधु-संस्थाके उत्कृष्ट सिद्धान्तोंको गार्हस्थ्य जीवनमें भी लागू करना चाहते हैं। न्याय और समताके आधार पर हमें 'बहुजनहिताय' समाज व्यवस्था करनी है और इस कार्यमें हमें आशा है कि आचार्यश्रीका आशीर्वाद हमारे साथ रहेगा।"

आचार्यवर 'एकोऽहं बहु स्याम्' की कोटिकी आत्मा हैं। विविध विचार और भावनाके लोग आपको विविध रूपमें पाकर एक महान् शक्तिकी कल्पना किये बिना नहीं रह सकते।

कलकत्ता विश्वविद्यालयके आशुतोष प्राध्यापक, संस्कृत विभागाध्यक्ष डा० सातकड़ि मुकर्जी एम० ए० पी० एच-डी० ने

आचार्यवरकी तेज-शक्तिका आलोकनकर कहा :—

* "आत्म-नियन्त्रणसे जो तेज, महत्ता और शक्ति प्राप्त होती है, उसके महाराज श्री तुलसीरामजी स्वामी एक ज्वलन्त उदाहरण है। शास्त्रोंका एक छात्र होनेके नाते मैं उन सन्तोंके, जिन्होंने कषाय-विजय द्वारा लोक-विजय प्राप्त किया है, जीवन-वृत्तोंसे परिचित हूँ। पर दुर्भाग्यवश आध्यात्मिक तपश्चर्याओं तथा उनकी शक्तियोंसे प्रत्यक्षरूप में परिचित नहीं था। शास्त्रीय विषयोंसे अपने परिचयके कारण ही मैं श्री गुरुमहाराजके व्यक्तित्वमें परिलक्षित आध्यात्मिक शक्तिका पता लगानेमें समर्थ हुआ क्योंकि शास्त्रोंमें उन आध्यात्मिक कारणोंके पर्याप्त उल्लेख हैं। उनकी उपस्थितिमें हमलोगोंकी अहंकारयुक्त

---

* His Holiness Shri Tulsiramji Swami is such a concrete illustration of the splendour and majesty and power that self-mastery is said to achieve. As a student of the Shastras, I am acquainted with the descriptions of the lives of saints who have conquered the world by conquering their lower selves. But unfortunately I have no direct acquaintance with spritual exercises and their efficacy. But my acquaintance with the contents of Shastras enables me to trace the spritual powers observed in the person of the Guru Maharaj to spritual causes of which there is ample record in the Shastras. In his presence our egoistic impulses, our vanity, our pettinesses our jealousies, automatically subside. I have felt the spritual contagion that he spreads over people who come into his vicinity. His radiant smile at once wins the

प्रवृत्तियां, अभिमान, लघुता और दोषदर्शिता आपसे आप दब जाती है। उनके समीप जो आते है, उनपर उनके इन आध्यात्मिक भावों का विस्तार मैंने अनुभव किया है। उनकी हास्ययुक्त मुस्कराहट कठिन हृदय सांसारिक मनुष्यके हृदयपर तत्काल विजय पा जाती है। विद्वानों तथा विद्वत्ताका पेशा अपनाये हुए व्यक्तियोंकी, जो अपनी विद्या-वुद्धिका अत्यधिक गर्व किया करते है, कमजोरियोंसे मुक्त मैं अपनेको नही मानता। पर मैंने उनकी उपस्थितिमें पाया कि यह कमजोरी दबगई तथा मैंने अपनेको उनके सम्मुख एक शिशुके रुपमें अनुभव किया। इसमें कोई आश्चर्य नही कि उस महात्माके प्रति हजारों व्यक्ति अपनी श्रद्धा-भक्ति दिखलाते तथा अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते है। मुझे स्वतः यह अनुभव होने लगा कि उनकी पैनी

---

heart even of a hard hearted worldly man. I do not claim immunity from the general weakness of scholdrs and men of learned profession who think much of their knowledge and wisdom But I felt in his presence that this weakness subsided and I felt like a child before him. No wonder that thousands of people do their reverence and pay their homage to the saint. I was made to feel that his penetrating vision enters into the innermost recesses of our mind. But he has superabundant tolerance and forgiveness for our failings, and our good instincts are roused to activity by his mere presence. So me how the impression has come over to my mind that he is a redeemer of carring humanity.

Unfortunately my Association with His Holiness has been for a short spell and the multitude of visitors

दृष्टि हम लोगोंके मनके अन्तस्तलमें प्रवेश कर जाती है। पर हमलोगों की असफलताओंके प्रति उनकी अत्यधिक सहिष्णुता तथा क्षमाशीलता है और उपस्थितिमात्रसे ही शुद्ध प्रवृत्तियां क्रियाशील हो जाती हैं। मेरे मनपर यह प्रभाव पड़ा है कि वे भ्रान्त मानवताके मुक्तिदाता हैं।

दुर्भाग्यवश श्रीचरणोंसे मेरा सत्संग बहुत कम समय तक रहा तथा दर्शनार्थियोंकी अपार भीड़ और उनके व्यस्त दैनिक कार्यक्रमके कारण मुझे उनसे कुछ पाठ पढ़नेका अवसर नहीं मिल सका, पर उनके कुछ सन्त शिष्योंसे कुछ शास्त्र-चर्चाका अवसर मिला और इसीसे शास्त्रोंपर उनके अद्भुत अधिकारका अनुभव प्राप्त करना मेरे लिए सम्भव हो सका।"

चीनमें भारतीय राजदूत सरदार के० एम० पन्निकर, डा० अमरेश्वर ठाकुर, प्रो० दुर्गामोहन भट्टाचार्य संसदके सदस्य मिहिरचन्द्र चट्टोपाध्याय आदि बहुतसे भारतीय और अनेकों

---

and the fully crammed programme of his daily activities did not afford scope for taking lessons from him. But I had the privilege of discoursing with some of his monk disciples and this made it possible for me to realise their stupendous mastery over the Shastras."

Spiritual Renaissance in Rajasthan and His Holiness Shri 1008 Shri Tulsiramji Swami the 9th Pontiff of the Jain Swetambar Terapanthi Community Page 3—4,

विदेशी दार्शनिक, विद्वान् तथा राजदूत आपके प्रति अत्यन्त श्रद्धालु हैं। डा० अमरेश्वर ठाकुरने 'तेरापन्थी साधु' शीर्षक एक पुस्तिका लिखी है, जिसमें तेरापन्थी संघका संक्षेपमें यथार्थ परिचय कराया है।

क्रान्तिकी चिनगारियाँ

धार्मिक क्षेत्रमें आचार्यश्रीने अमर क्रान्ति की है। समय-समयपर तीर्थंकर और बड़े-बड़े आचार्य जिस लौ को जलाते आये हैं, उसीमें आपने भारी चैतन्य उंडेला है। स्वार्थ-पोषक लोग अपनी स्वार्थ-पूर्तिके लिए 'धर्म खतरेमें' का नारा लगाते हैं। आप इसे सहन नहीं कर सके। आपने कहा :—

"यह क्या ? धर्म खतरेमें ? स्वार्थ खतरेमें हो सकता है। धर्म आत्माकी वस्तु है, उसको किस वातका खतरा ?"

आपने अपनी अनुभूति व्यक्त करनेके लिए एक कविता लिखी, जिसका शीर्षक रखा 'अमर रहेगा धर्म हमारा'। इसका जनतापर मनोवैज्ञानिक असर हुआ। लाखों जैन, जैनेतर, जो 'धर्म खतरेमें' की आवाज सुनते-सुनते भ्रान्त हो रहे थे, जाग

उठे - धर्मके प्रति दृढ़ श्रद्धालु बन गये। 'अमर रहेगा धर्म हमारा' की आवाज बुलन्द हो उठी।

तेरापन्थके प्रथम आचार्य श्री भिक्षुगणीने धार्मिकोंको यह चेतावनी दी कि यदि धर्म हिंसा और परिग्रहका अखाड़ा बना रहा, उसके नामपर बड़े-बड़े मकान और पूंजी एकत्र की गई, धनिक-निर्धनका भेद चलता रहा तो अवश्य ही उसके शिरपर एक दिन खतरेकी घण्टी बजेगी।

भगवान् महावीरकी वाणीका प्रतिबिम्ब ले भिक्षु स्वामीसे जो किरणें फैलीं, उनका आचार्यश्रीने महान् उज्जीवन किया।

लोग जब कहते हैं कि आज वैज्ञानिक-समाजकी धर्म पर आस्था नहीं है, तब आप इस तथ्यको स्वीकार नहीं करते। आपकी धारणा है कि इसमें वैज्ञानिक समाजका दोष नहीं है। यह सब धार्मिकोंने धर्मके नामपर जो खिलवाड़ की, उसका परिणाम है। धर्म सबके हितकी वस्तु है। उसपर किसीको आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु अहिंसा और सत्य जिसका स्वरूप है, अपरिग्रह जिसकी जड़ है, वह धर्म हिंसा, झूठ और परिग्रहका निकेतन बन जाय, तब उसे लोग कैसे अपनायें ? कैसे उससे सुख-शान्तिकी आशा रखें।

धर्मकी जो विडम्बना हो रही है, उसे देखकर आपके हृदयमें बड़ी भारी वेदना होती है। मथुराके टाउन-हालमें प्रवचन करते हुए आपने कहा :—

"मुझे इस बातका खेद है कि लोगोंने धर्मको जातिके रूपमें

बदल डाला। धार्मिकोंके आडम्बर, कलह, शोषण, स्वार्थपरता, संकीर्णता, जाति-अभिमान आदिके बारेमे जब मैं सोचता हूं, तब हृदय गद्गद् हो जाता है।"

"मैं ऐसे धर्मकी साधनाके लिए जनताको प्रेरित नहीं करता। मैं आप लोगोंसे वैसे धर्मको जीवनमें उतारनेका अनुरोध करूंगा, जो इन झंझटोंसे परे हो, विश्वबन्धुत्वका प्रतीक हो।"

आपकी धारणामें धर्मके सच्चे अधिकारी वे हैं, जो त्यागी और संयमी हैं। आज बहुलांशमें धर्मकी बागडोर पूंजीपतियों के हाथमें है इसलिए उसपरसे जन-साधारणका विश्वास उठ गया है। धर्मके लिए पूंजीका कोई उपयोग नहीं है।

आपने गत कई वर्षोंसे पिछड़ी जातियोंकी आचार-शुद्धिपर विशेष ध्यान दिया। भंगी-बस्तियोंमें साधुओंको भेज कर व्याख्यान करवाये। अनेकों बार आपने स्वयं उनके बीच व्याख्यान किये। उनमें बड़ी श्रद्धा जाग उठी। आपने उनसे कहा :—

"आपमें जो स्वयंको हीन समझनेकी भावना घर कर गई, वही आपके लिए अभिशाप है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्यके लिए अस्पृश्य या घृणाका पात्र माना जाये, वहां मानवताका नाश है। आप अपनी आदतोंको बदलें। मद्य, मांस आदि बुरी वृत्तियां को छोड़ दें। जीवनमें सात्त्विकता लायें। फिर आपको पावन वृत्तियोंको कोई भी पतित या दलित कहनेका दुस्साहस नहीं करेगा।"

आचार्यश्रीके दृष्टिकोणको हजारों हरिजनोंने अपनाया। मद्य, मांस, तम्बाकू आदि अनेकों कुव्यसन त्याग दिये। कई स्थिति-पालकोंको यह बहुत अखरा। वे आचार्यश्रीको दलित जातिके बीच देखना पसन्द नहीं करते, किन्तु आचार्यश्रीने इसे अस्थान समझा। आप इसे बार-बार स्पष्ट करते रहे :—

"हमारा प्रवचन सबके लिए है। जो कोई सुनना चाहे उसे रोकनेका किसीको अधिकार नहीं है।"

आप यह भी स्पष्ट करते रहे :—

"हमारा जो कोई प्रयत्न होता है, वह सिर्फ अहिंसा और सदाचारकी वृद्धिके लिए होता है। हमें कोई सामाजिक या राजनैतिक स्वार्थ नहीं साधना है। न हमें चुनाव लड़ना है और न मत एकत्र करने हैं। हम इन सब झंझटोंसे परे हैं।"

आचार्यश्री के इस सफल प्रयोगसे लाखों लोगोंको मानव-जातिकी एकताका भान होने लगा है, यह उनका सही मार्गकी ओर एक कदम है।

"व्यक्ति-व्यक्ति में धर्म समाया,
जाति-पांतिका भेद मिटाया।
निर्धन धनिक न अन्तर पाया,
जिसने धारा जन्म सुधारा॥
अमर रहेगा धर्म हमारा।"

आपके इस पद्यकी धार्मिक क्षेत्रोंमें बड़ी गूंज है। आशा है कि भविष्यमें यह विशुद्ध धर्मका व्याख्या-मन्त्र होगा।

आज जिसकी चर्चा है

आचार्य श्री तुलसी एक महान् धर्माचार्य हैं। सैद्धान्तिक दृष्टिसे भले ही हमलोग आपको जैनाचार्य कहें, व्यवहारकी भूमिकामें आप सिर्फ धर्माचार्यके रूपमें सामने आये हैं। धर्म का उन्नयन आपके जीवनकी महान् साधना है। अहिंसाके व्यापक प्रचारका अदम्य उत्साह आपकी रग-रगमें रक्तकी भांति संचारित होता रहता है। अणुव्रतीसंघकी स्थापना इसीका परिणाम समझिये। यह एक असाम्प्रदायिक धर्मसंस्था है, जिसका एकमात्र उद्देश्य है जीवन-निर्माण, चरित्र-विकास। धर्म-संकीर्ण विश्वके लिए यह एक सरल पथ है। इसकी आत्मा अहिंसा है किन्तु स्वरूप क्रान्तिकारी है और यह सही है कि इसी प्रवृत्तिके कारण यह सहसा लोगोंको अपनी ओर खींचनेमें सफल हुआ।

जैसा कि हिन्दीके प्रमुख पत्रकार सत्यदेव विद्यालंकारने लिखा है :—

"अणुव्रतीसंघ एक संस्था, संगठन, आन्दोलन और योजना है, जिसके साथ आजके लोकाचारको देखते हुए 'क्रान्तिकारी' विशेषण बिना किसी संकोच या सन्देहके लगाया जा सकता है। कमसे कम मेरा आकर्षण तो उसके इस क्रान्तिकारी स्वरूपके ही कारण हुआ है।"

यह *संघ एक वर्ष तक छिपा रहा। दिल्ली अधिवेशनके अवसर पर जनताने इसका मूल्य आंका। नैतिकताके पोषक वर्गोंने इसे अपना सहयोगी माना। देश व विदेशोंमें सब जगह इसका हार्दिक स्वागत हुआ। पण्डित नेहरू, आचार्य विनोवा आदि आदि विशिष्ट व्यक्ति इसकी असाम्प्रदायिक नीतिसे बड़े प्रभावित हुए। लोगोंने अनुभव किया कि महात्मा गांधीकी मृत्युके बाद सार्वजनिक क्षेत्रोंमें जो अहिंसाकी गति रुक गई थी, वह पुनर्जीवित हो चुकी है।

आजसे ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीरने अणुव्रतोंकी दीक्षा देकर गृहस्थ जीवनको सुसंस्कृत किया था। सामाजिक बुराइयोंको जड़मूलसे उखाड़ फेंकनेके लिए क्रान्तिका शंख फूंका था। उन्हीं अणुव्रतोंको आधुनिक ढांचेमें ढालकर आचार्यश्री ने सामाजिक बुराइयोंके विरुद्ध जो नैतिक संघर्ष छेड़ा है, वह निश्चय ही आपकी मर्यादाके अनुरूप है। भारतके एक किसान और मजदूरसे लेकर राष्ट्रपति तक सभीने इसकी उपयोगिता

* विशेष विवरणके लिए देखो—अणुव्रतीसंघ पहला वार्षिक अधिवेशन

स्वीकारकी है। विदेशोंमें इसका जो स्वागत हुआ, उससे जाना जाता है कि भारतके भाग्यमें जगद्गुरु होनेका श्रेय आज भी सुरक्षित है।

जैन-सिद्धान्तोंकी व्यावहारिकतामें सन्देह करनेवालोंको यह संघ सक्रिय उत्तर है। आदर्श व्यवहारकी सतहमें आकर ही यथार्थ बनता है। भगवान् महावीरके सिद्धान्त निवृत्तिमूलक होते हुए भी व्यवहारकी सच्चाईको लिए हुए हैं।

समय-समय पर जैनाचार्योंने अपनी पावन कृतियों द्वारा यह सन्देश जनताके कानों तक पहुंचाया है। आचार्यश्रीने भी अपने युगमें धर्मका महान् नेतृत्व किया है, यह लिखते हुए इतिहासकारकी लेखनी गौरवसे नाच उठेगी।

जन-कल्याणकी भावना

आपकी प्रवृत्तियोंमें सर्वोदयकी—प्राणी मात्रके हितकी भावना रहती है। यही कारण है कि आप जन-जागरणके प्रतीक हैं। जनहितके लिए आपने पहले पहल *तेरह सूत्री योजनाका प्रसार किया। इसने अणुव्रती संघकी पीठिकाका काम किया।

१—निरपराध चलते-फिरते जीवोंको जान बूझकर न मारना।

२—आत्म-हत्या न करना।

३—मद्य न पीना।

४—मांस न खाना।

५—चोरी न करना।

६—जुआ न खेलना।

युगकी गतिविधिको देखते हुए जनताके मानसका परिचय पा लेना आवश्यक था। भूतवादके लौहावरणसे आच्छन्न संसार अध्यात्मवादको भूमिसात् किये चला जा रहा है। ऐसी स्थितिमें पहले ही अणुव्रतीसंघका मूल्याङ्कन करनेको एक कुशाग्रता पूर्ण कार्य कहना चाहिए। भारतीय रंगमंच बदल गया, फिर भी आत्मा नहीं बदली। इसमें अब भी अध्यात्मकी लौ जल रही है, यह पाया गया। एक वर्षके थोड़ेसे प्रयासमें पचीस हजार व्यक्तियों द्वारा तेरहसूत्री योजनाका स्वीकार किया जाना उसका पुष्ट प्रमाण है।

७—झूठी साक्षी न देना।

८—द्वेष या लोभवश आग न लगाना।

९—पर-स्त्री गमन न करना, अप्राकृतिक मैथुन न करना।

१०—वेश्यागमन न करना।

११—धूम्रपान व नशा न करना।

१२—रात्रि-भोजन न करना।

१३—साधुके लिए भोजन न बनाना।

साम्प्रदायिक एकता

जैन-धर्म समताप्रधान ही नहीं है, किन्तु समतात्मक है। समताका मूल आत्माकी आन्तरिक भावनाओंमेंसे निकलता है। भगवान् महावीरकी वाणीमें जिसका रूप है—"आयतुले पयासु" जिसकी प्राणीमात्रके प्रति समता-बुद्धि है, वही सही अर्थमें समता का सन्देशवाहक हो सकता है। इस दिशामें जैन-आचार्योंकी कृतियां बड़े गौरवके साथ उल्लेखनीय हैं।

भगवान् महावीरकी प्रकाशमान परम्परामें अनेक आचार्य तेजोमय नक्षत्रकी भांति चमके, कोटि-कोटि जनताके प्रकाश-स्तम्भ बनकर चमके। अस्त्र-शस्त्र या पशु-शक्तिके सहारे चमकनेका अर्थ है मर मिटना। जैन-धर्म इसका मूलतः परिपन्थी है। चमकना वह है कि बिना किसी दबावके जनता जिसे अपना

शिरमौर माने, जिससे पथ-दर्शन ले। सबके लिए पथदर्शक होना उसीके लिए सम्भव है, जो सबके लिए समान हो। "पियमप्पियं कस्स वि नो करेज्जा"—किसीका भी प्रिय-अप्रिय न करे, इस भावनाको साथ लिए चलनेवाला हो। लोग सोचेंगे कि किसीका प्रिय न करे, यह बात कैसी ? गहराईमें जायेंगे तो पता चलेगा कि साम्यवादकी जड़ यही है। किसी एकका प्रिय सम्पादन करने वाला दूसरेका अप्रिय भी कर सकता है। एक परिवार, समाज या राष्ट्रके लिए प्रिय बात सोचनेवाला दूसरोंकी उपेक्षा किये बिना नहीं रह सकता। अध्यात्मवादी प्रिय-अप्रियकी बात नहीं सोचता। वह सोचता है सबके साथ साम्य वर्ताव की।

आचार्य श्री तुलसी इसी परम्पराके प्रतिनिधि हैं। आपकी सात्त्विक प्रेरणाओंसे साम्य-सृष्टिका जो पल्लवन हो रहा है, वह किसी भी धार्मिकके लिए गौरवका विषय है। जैन-एकता ही नहीं, अपितु धार्मिक सम्प्रदायमात्रकी एकताके लिए आपने जो दृष्टि दी है, वह इतिहास-लेखकके लिए स्वर्णिम पंक्तियां होगी।

आप सम्प्रदायोंको मिलानेके पक्षपाती नहीं, उनके हृदयोंको एक सूत्रमें बांध देनेको उत्सुक हैं। धर्म-सम्प्रदायोंमें आपसमें वैर-विरोध, ईर्ष्या और विचारोंकी असहिष्णुता न रहे तो वे अलग अलग रहकर भी विश्वके लिए वरदान बन सकते हैं। बंगालके खाद्य-मन्त्री श्रीप्रफुल्लचन्द्र सेनने आपसे पूछा—क्या सभी धर्म-सम्प्रदायोंमें ऐक्य सम्भव है ? आपने कहा—हां है। उन्होंने पूछा—कैसे ? आपने कहा—विचार-भेद मिट जाय, सभी

सम्प्रदाय मिल जायं, यह तो सम्भव नहीं है। किन्तु एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदायके साथ अन्याय न करे, घृणा न फैलाये, आक्षेप न फैलायें, आक्षेप न करे, विचार-सहिष्णु रहे, थोड़ेमें मन-भेद मिट जाय तो बस फिर एकता ही है।

साम्प्रदायिक एकताका यह सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक मार्ग है। सब सम्प्रदाय मिटकर एक बन जायं, इसमें कितनी कठिनाइयां हैं। दूसरे शब्दोंमें कितनी असंभावनाएं हैं, यह किसीसे छिपा नहीं है। उस स्थितिमें आपसी सद्भावना ही एकत्व हो सकती है।

आपकी अपनी नीति इस एकताके अनुकूल है। आप साम्प्रदायिक वैमनस्य और खण्डनात्मक नीतिमें विश्वास नहीं करते। दूसरे सम्प्रदायों पर आक्षेप करनेकी नीतिको आप घृणित और साम्प्रदायिक कलहका मूल-मन्त्र मानते हैं।

आपने जयपुरकी एक विशाल परिषद्में प्रवचन करते हुए कहा:—

"धर्म-सम्प्रदायोंमें समन्वयके तत्त्व अधिक हैं, विरोधी तत्त्व कम। उस स्थितिमें धार्मिक व्यक्ति विरोधी तत्त्वोंको आगे रखकर आपसमें लड़ते हैं, यह उनके लिए शोभाकी बात नहीं है। उनको समन्वयकी चेष्टा करनी चाहिए।"

वह दिन धर्म-सम्प्रदायोंके लिए पुण्य दिन होगा, जिस दिन उक्त विचार फलवान् होंगे।

संघ-शक्ति

तेरापंथ संघ एकतन्त्रीय शासनका बेजोड़ उदाहरण है। उसमें एक आचार्यके नेतृत्वका सफल अनुशीलन होता है। नेतामें वात्सल्य और अनुयायीमें श्रद्धा हो, तब अनुशासनमें जान आती है। वहां अनुशासन ऊपरसे न आकर अन्दरसे निकलता है। इसे शास्त्रोंमें आत्मानुशासन या हृदयकी मर्यादा कहा गया है। आपके अनुशासनका मूल-आधार यही है। आपके नेतृत्वमें ६४० साधु-साध्वियां और लाखों श्रावक-श्राविकाएँ हैं। संघ-शक्तिका उपयोग केवल लक्ष्यकी ओर अग्रसर होनेमें होता है। खण्डनात्मक नीतिमें न विश्वास है और न उसका प्रयोग भी होता है। आजके इस जनतन्त्रीय युगमें एक तन्त्रीय धर्म-शासन सुननेमें स्यात् कुछ अटपटा सा लगे, किन्तु उसके कर्तृत्व

पर आवरण नहीं डाला जा सकता। नेता और अनुगामी दोनों आपसमें हृदयाकर्षणपूर्वक कार्य करें तो एकतन्त्रके समान स्वस्थ कोई दूसरी शासन-प्रणाली ही नहीं। धार्मिक शासनकी यह पद्धति राजनीतिक पण्डितोंके लिए अध्ययनका विषय है। भारत के लिए गौरवकी बात है।

शिष्य-सम्पदा

आचार्यश्री का जीवन एक विशिष्ट तपोभूमि है। उसका साधना-तेज दूसरोंके लिए सहज सिद्ध आकर्षण है। हजारों व्यक्ति त्यागके प्रति आकृष्ट हुए, यह उसीका फल है। श्रावक-जीवनकी दीक्षा और अणुव्रती दीक्षाके अतिरिक्त महाव्रत दीक्षा भी कम व्यक्तियोंने नहीं ली।

मुनि-जीवन निःसन्देह कठोर साधना है, तलवारकी धारपर चलना है, लोहेके चने चबाना है; फिर भी एक महान् साधकके नेतृत्वमें उस पर चलनेकी आत्म-प्रेरणा सहज प्रौढ़ बन जाती है। युवक और बड़े बूढ़ोंकी तो बात ही क्या? छोटे-छोटे किशोर कुमारोंने आपके नेतृत्वमें इस अग्नि-परीक्षाको सहज स्वीकार किया और सरल बनाया है। मानवताकी इस प्रयोग-

शालामें अनगिनत किशोर मानवताके चरम तक पहुंच पाये हैं।

आसपासमें रहनेवालोंको लगा कि यह बहुत बड़ा काम हो रहा है, भौतिकताके विरुद्ध आध्यात्मिक सेनाका निर्माण हो रहा है। दूर खड़े लोगोंने मन ही मन सोचा—यह क्या हो रहा है? छोटे-छोटे बालक मुनि-जीवनकी ओर खिंचे जा रहे हैं? उन्हें बहकाया जा रहा है, फुसलाया जा रहा है, ललचाया जा रहा है आदि आदि।

यह सन्देह था और है, पर दूर रहनेका अर्थ सन्देहके सिवाय और हो ही क्या सकता है। आचार्यश्रीकी मूक साधनाने ऐसे व्यक्तियोंका निर्माण किया है, जो उनकी प्रतिभाके स्वयं प्रमाण हैं। चारित्र और विद्याके सुन्दर समन्वयसे जीवनका प्रासाद खड़ा करना, मजबूतीके साथ उसे आगे बढ़ाना आचार्यश्रीके स्वयम्भू व्यक्तित्वका सहज परिणाम है। आपके शिष्योंकी मूक कृतियों का उल्लेख कर मैं उन्हें सीमामें बांधनेकी प्रागल्भता कर सकता हूं, किन्तु फिर भी मैं एक पुस्तकके बीचमें दूसरी पुस्तक लिखनेको तैयार नहीं हूं। इसलिए मैं एक दिवंगत बालमुनि कनककी, जो कसौटी पर कनक ही रहा, चर्चा कर इस प्रसंगसे मुक्ति पा लूँ, ऐसी मेरी इच्छा है। मुनि कनककी जीवन-गाथा आचार्यश्रीके जीवनसे इस प्रकार जुड़ी हुई है कि उसका उल्लेख किसी अंशमें भी अप्रासंगिक नहीं लगेगा। इसमें आचार्यश्रीकी निर्माणकारी प्रवृत्तियों और बालककी विवेकपूर्ण मनोवृत्तिके अध्ययनकी सामग्री मिलेगी।

बहुधा लोग अवस्थाकी बात सुनते ही घबड़ा जाते हैं, धीरज खो बैठते हैं, किन्तु यह उचित नहीं ! अवस्था और बुद्धिका मेल बड़ा विचित्र होता है। उसके आधार पर एकाङ्गी निर्णय करना व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके साथ खिलवाड़ नहीं तो और क्या है ? बहुतसे बूढ़े बालक होते हैं और बालक बूढ़े। बूढ़े और बालक केवल अवस्थासे नहीं होते। उनके और भी अनेक कारण हैं। अवस्था कोई गुण नहीं, वह तो एक काल-परिवर्तनकी स्थिति है। वह सबको आती है, क्रमशः आती है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। *महाकवि कालीदासने 'वृद्धत्वं जरसा विना' इस सूक्ति से वयःस्थविरके अतिरिक्त स्थविरोंका संख्या-निर्देश करते हुए लिखा है :—

"अनाकृष्टस्य विषयै, विद्यानां पारदृश्वनः।
तस्य धर्ममतेरासीद्, वृद्धत्वं जरसा विना ॥

अर्थात् वैराग्य, ज्ञान और सदाचार– धर्मसे भी मनुष्य स्थविर बनता है। विवेचना-शक्तिका प्रादुर्भाव होता है कि बालक बूढ़ा बन जाता है। मैं जिस बालककी जीवन-कहानी लिख रहा हूं, वह उक्त पंक्तिका अपवाद नहीं था। वयसा शिशु होने पर भी वह वैराग्य, विवेक और सदाचारसे प्रौढ़ था। जन्म-परम्पराके अनुसार वह इस नश्वर संसारके निर्घृण प्राङ्गणमें एक घटना-चक्र लिये हुए आया। दश वर्ष तक उसी लीलामें रमण करता रहा।

---

* रघुवंश प्रथम सर्ग श्लोक २३।

दिव्य आकृति थी, शरीर सुकुमार था, सबसे गजबकी थी वह मृदु मुस्कान, जो दर्शकोंको मुग्ध किये विना न रहती। शिक्षा की अभिरुचि थी। हिन्दी और इङ्गलिशका अभ्यास चालू था। पवनकी गति बदली। बालकके विचारोंमें आन्दोलन हुआ। विरक्तिके भाव उमड़ पड़े। चालू जीवनसे मुंह मोड़ा। दीक्षा लेने को कटिबद्ध हो गया। यह कैसे हो सकता है? क्यों हुआ? क्या इस वयमें दीक्षाका बोध भी सम्भव है? मैं इन प्रश्नोंका विस्तृत उत्तर न देकर सिर्फ इतना ही कहूंगा कि यह हो सकता है, ऐसा हुआ है और यह सम्भव है। क्यों और कैसेका उत्तर आप मानस-शास्त्रियोंसे लीजिए, उनसे मानस-विश्लेषण कराइये।

पिता (कन्हैयालालजी) और पुत्र दोनों आचार्य श्री तुलसी के सामने करबद्ध प्रार्थना करने खड़े हुए—महामहिम! हम विरक्त हैं, दीक्षाके अभिलाषी हैं, हमारी मनोभावना सफल करनेकी कृपा करें। आचार्यवरने उन्हें देखा, उनकी अन्तरभावनाकी झांकी ली और उन्हें इन शब्दों द्वारा सान्त्वना दी कि अभी साधना करो।

तेरापन्थके नियमानुसार आचार्य अथवा उनकी विशेष आज्ञा के सिवाय और कोई दूसरा दीक्षा नहीं दे सकता। यही कारण था कि वे दीक्षाका निर्देश पानेके लिए बार-बार आचार्यश्री से प्रार्थना करते रहे। पूर्ण परीक्षणके बाद आचार्यश्रीने उन्हें दीक्षा की स्वीकृति दी। सं० १९९५ (कार्तिक शुक्ला ३) में सरदारशहर में उनकी दीक्षा हुई।

दीक्षाके थोड़े समय पश्चात् कन्हैयालालजीकी भावना शिथिल

हो गई। वे दीक्षाके कष्टोंसे घबड़ा गये और उन्होंने पुनः गृहस्थी में जानेका निश्चय कर लिया। यद्यपि वे (कन्हैयालालजी) दश वर्षसे दीक्षा लेनेको उत्सुक थे। फिर भी दीक्षाके परिषह कम नहीं होते। जो व्यक्ति गृहस्थकी सुख-सुविधाओंमें परिपक्व हो जाता है, अनुशासनहीन सामाजिक जीवनमें रम जाता है, शारीरिक श्रम नहीं करता है, वह उन पके हुए संस्कारोंको लेकर साधु-संस्था में दीक्षित बने तो उसके लिए तेरापन्थ साधु-संस्थामें सम्मिलित होना एक बड़ी समस्या है। साधु-जीवनकी कठिनाइयां हैं, वे तो हैं ही, उनके अतिरिक्त सुदृढ़ अनुशासनमें रहना, कठोर श्रम करना, स्वावलम्बी रहना, दूसरोंका कहा मानना, उलाहना सहना आदि आदि ऐसी प्रवृत्तियां हैं, जो कच्चे-पक्के संसारके रंगमें रंगे हुए व्यक्तिके लिए दुरुह होती हैं।

बाल-जीवन उन सांसारिक सुविधाओं एवं शिथिलताओंका आदी नहीं होता। इसलिए वह सरलतापूर्वक साधु-संस्थाकी कठिन प्रवृत्तियोंमें भी अपना जीवन ढाल लेता है और उनके अनुकूल बना लेता है। पिता-पुत्र इसके सजीव उदाहरण हैं। ४५ वर्षका पिता घर जानेकी सोच रहा है और १० वर्षका पुत्र सब कठिना-इयोंको चीरता हुआ संयम-साधनामें अग्रसर होता जा रहा है।

पिताने पुत्रको पुनः घर लौटनेको कहा। उनने यह कब सोचा कि मेरा पुत्र मेरी बातको टाल देगा। उन्होंने देखा कि मैं कठिनाइयोंसे घबड़ा गया, तब यह कैसे नहीं घबड़ाया होगा। मैं बूढ़ा होने जा रहा हूं, यह आखिर बालक है। पर उन्होंने

'न च वय:' इसपर ध्यान नहीं दिया, अन्यथा वे अपने पुत्रको समझानेका कष्ट न करते। पुत्रने पितासे कहा – आश्चर्यभरे स्वरमें कहा—यह क्यों ? आपके मुंहसे ये शब्द निकले ! मैं नहीं सुनना चाहता ऐसे शब्द !! अपन कितने वैराग्यसे घर बार छोड़ कर दीक्षित हुए हैं। लाखोंकी सम्पत्ति, पूरा परिवार, बड़े बड़े मकान क्या इसीलिए थोड़े ही छोड़े हैं कि हम घर वापिस चले-चलें। मैं अधिक क्या कहूं ? आप स्वयं समझदार हैं, आखिर आपकी ऐसी भावना हुई क्यों ? यह तो बतायें। पिताने बात को टालते हुए कहा—नहीं, यों ही मैं तेरी परीक्षा करता हूं—तेरी भावना कैसी है, तू संयममें कैसा रमा है।

थोड़े दिन बीते, फिर वही घोड़ा और वही मैदान। पिताने पुत्रको ललचानेकी बातें शुरू कर दीं। मीठे-मीठे शब्दोंमें कहा—देख, अपन वैराग्यसे साधु बने, घर छोड़ा, यहां साधुपन नहीं पल रहा है। फिर व्यर्थ ही क्यों कष्ट सहें ? आत्म-कल्याण गृहस्थीमें जाकर भी कर लेंगे। पुत्रने फिर पिताको समझाया—आप अपनी दुर्बलताको साधु-संस्थाके शिर न मढ़ें। आपको यह काम करना उचित नहीं। थोड़ी सी कठिनाइयोंसे घबड़ाकर शिथिल होना आपको शोभा नहीं देता। मैं आपकी यह बात कभी नहीं मान सकता, चाहे जो कुछ भी हो जाये।

पिताका प्रयत्न फिर असफल रहा।

उन्हें दीक्षा स्वीकार किये दो-ढाई महीने हुए थे। राजलदेसर की बात है। आचार्यश्री रात्रि-प्रतिक्रमण कर विराज रहे थे।

मुनि कनक वहां आये और आचार्यश्रीको अभिवन्दन कर एकांत में उनने आचार्यश्रीसे पूछा—यदि कोई शंकासहित शासनमें रहे तो कैसे ? आचार्यश्रीने उत्तर देते हुए कहा—शंकासहित शासन में नहीं रहना चाहिए। आचार्य भिक्षुकी यह मर्यादा की हुई है कि कोई भी साधु सन्दिग्ध भाव या संकोचपूर्वक शासनमें न रहे। आचार्यश्रीने कहा—तूं यह क्यों पूछता है ? इसका प्रयोजन क्या है ? उत्तरमें मुनि कनकने प्रार्थनाकी कि मैं इसे जानना चाहता हूं।

कन्हैयालालजीकी प्रवृत्तियोंमें व्यग्रता बढ़ती गई। वह बाल-मुनि उन्हें समझता रहा। आखिर पिताको यह निश्चय हो गया कि मेरे कहनेसे यह मेरे साथ जानेवाला नहीं है। उन्होंने दूसरा प्रयोग प्रारम्भ किया। आचार्यश्रीसे बार बार मुनि कनक के बारेमें पुकार करने लगे—यह अविनीत है, मेरा कहा नहीं मानता। आचार्यश्रीने मुनि कनकको उलाहना दिया और आगे पिताके कहे अनुसार चलनेका निर्देशन किया। ऐसी घटनाएं भी कई बार घटीं। यह एक बड़ी समस्या थी।

बालककी प्रवृत्तियोंको देखते हुए यह अनुमान तक लगाना कठिन था कि यह अविनीत है। दूसरी ओर पिता पुत्रके अहित की बात सोचता है, यह जानना भी दुरूह था। आखिर 'अन्धेर नहीं कुछ देर है' वाली जनोक्ति चरितार्थ हुई। कन्हैयालालजीको यह दृढ़ निश्चय हो गया कि कनक मेरे प्रयत्नोंसे मेरे साथ जाने-वाला नहीं। इसलिए उन्होंने ऐसी प्रवृत्ति करनेका सोचा कि

आचार्यश्री इसे बहुत ज्यादा उलाहना दें और उससे घबड़ाकर यह स्वयं मेरे साथ चलनेको तैयार हो जाये।

एक रातको उन्होंने आचार्यश्रीकी सेवामें कनककी अविनीत प्रवृत्तियोंकी पोथी पढ़ डाली। आचार्यवरने मुनि कनकको कुछ कठोर उलाहना दिया और कहा कि तू बापका अविनीत है, इसलिए मैं तुझे पढ़ाना बन्द कर दूंगा। इससे बालकका सुकुमार हृदय सिहर उठा। कुछ-कुछ आंखें भी गीली हो गईं। वह चाहता था कि मैं आचार्यश्रीसे कुछ निवेदन करूं, पर उस बुद्धिमान् बालककी पलकों पर 'इतो व्याघ्र इतस्तटी' वाला दृश्य नाच रहा था। एक ओर वह पिताके हितकी चिन्तामें था, दूसरी ओर आचार्यवरकी अप्रसन्न दृष्टि भी उसके लिए असह्य थी। फिर भी ऐसी परिस्थिति आई कि उसने एक निर्णय किया और वास्तविक स्थितिको आचार्यश्रीके सम्मुख रखना उचित समझा।

कुछ क्षणोंके बाद आचार्यश्रीने पूछा—क्या तूं कुछ कहना चाहता है ? स्वीकृतिके स्वरमें उसने प्रार्थना की। आचार्यवरने कहा—कह दे। उसने प्रार्थना की—एकान्तमें निवेदन करूंगा। साधु दूर चले गये। आचार्यवरके सान्त्वनापूर्ण शब्दोंका उसे कुछ संबल मिला और उसने वस्तुस्थिति सामने रखनी प्रारम्भ की। निवेदनकी प्रारम्भिकतामें ही उसने आचार्यश्रीका दृष्टिकोण बदल दिया। उसके पहले शब्द ये थे—आप मुझे फरमाते हैं कि मैं कन्हैयालालजी स्वामीके पास जाऊं, उनका कहा मानूं और वे मुझे घर ले जाना चाहते हैं। मैं जाना नहीं चाहता। इस

दशामें हमारी कैसे पट सकती है ? आचार्यवरने विस्मय और खिन्नताके शब्दोंमें कहा—यह कबसे ? उत्तरमें कहा—माघसे—दो ढाई महीनोंसे। आचार्यश्रीने कहा—पहले तूने क्यों नहीं कहा ? उसने प्रार्थना की—मैंने आचार्यश्रीसे पूछा था—"शंका सहित साधुपनमें रहना चाहिए या नहीं" इसका तात्पर्य यही था। "यदि तूं मेरी बातें कहीं कह देगा तो मैं अनशन कर दूंगा"—कन्हैयालालजी स्वामीने मुझे यों कई बार कहा, इसलिए मैं स्पष्ट रूपमें कुछ भी कहनेमें संकोच करता रहा। मैंने सोचा कि मैं उनको समझा लूंगा। किन्तु मेरी चेष्टाएं विफल रहीं। मैं कई बार आपका उलाहना सह चुका, फिर भी मैंने कुछ भी कहना नहीं चाहा; सिर्फ इसलिए कि मेरे संसारपक्षीय पिता ज्यों-त्यों पुनः सुदृढ़ हो जाएं। आचार्यवरने मुनि कनकको आश्वासना दी और उसे संयम-प्रवृत्तिमें पूर्ववत् सजग रहनेकी शिक्षा दी। कन्हैयालालजीको इस बातका पता चला, तब वे अधीर हो उठे। अपनी दुष्प्रवृत्तिको छिपानेके लिए कई कुचेष्टाएं कीं और मुनि कनककी ओरसे सर्वथा निराश होकर गणसे पृथक् हो गये।

आचार्यवरने कनकसे कहा—तेरा पिता साधु-संस्थासे पृथक् हो गया है। तेरी क्या इच्छा है ? यहां तो मर्यादापूर्वक चलना होगा, साधु-जीवनकी कठिनाइयां सहनी होंगी। उलाहने सहने होंगे। तेरा पिता तुझे ले जाना चाहता है............... ।

आचार्यवरके ये शब्द सुन बाल-मुनि त्वरासे बोला—गुरुदेव ! आत्म-साधनाके पथमें पिता-पुत्रका सम्बन्ध कैसा ?

आप मेरे धर्मपिता हैं। मैं साधुव्रत कभी भंग नहीं करूंगा। मैं आपके अनुशासनमें प्रसन्न हूं। मैं निरन्तर आपके निर्देशानुसार आत्म-साधनामें अग्रसर होऊं, यही एकमात्र मेरी मनोभावना है गुरुदेव! कठिनाइयां! दीक्षा यह सोच-विचारकर ही ली थी कि साधु-जीवन कठिनाइयोंका घर है, मैं उनका हँस-हँसकर सामना करूँगा, उन्हें चीरकर आगे बढ़ूंगा। उलाहना! त्रुटि हुए विना आप उलाहना देंगे नहीं; मेरी त्रुटिपर मुझे उलाहना मिले, उसमें मैं खिन्न क्यों होऊँ। उसे मैं मेरी त्रुटिका प्रायश्चित्त समझूंगा। गुरुदेव! आप मुझपर वात्सल्य रक्खें और शीघ्रातिशीघ्र मैं उन्नति करूँ, ऐसा मार्ग-दर्शन करें।

बालककी विवेकपूर्ण बातोंने अपने प्रति आचार्यश्रीके हृदय में एक आकर्षण पैदा कर दिया। नियमित अध्ययन प्रारम्भ होगया। उसके विनय और सौम्य भावनाओंसे आकृष्ट न होता, उसे देख, उसकी प्रवृत्तियोंको देख, उसके उज्ज्वल भविष्यकी कल्पना न करता, ऐसा कौन था?

अवश्यम्भावी भावकी सत्ता बलवती होती है—यकायक बाल-मुनिको ज्वर आया। किसने जाना कि यह चिरसमाधिका अग्रदूत है। वह सामान्य ज्वर 'भाव' (मियादी ज्वर) के रूप में बदल गया। कफका प्रकोप बढ़ गया। बालजीवन, साधु-जीवनकी कठिनाइयाँ, व्याधिकी भीषणता, फिर भी वह मृदु-मुस्कान अखण्ड रही, हँसते-हँसते कष्टोंको झेला! नहीं सुना कभी किसीने उसके मुँहसे ओह! हाय! चूं तक। वह अवस्था

में वालक था, कौन कह सकता है कि वह कृतियोंमें प्रौढ़ नहीं था। उचित चिकित्सा चली, फिर भी उससे कोई लाभ नहीं हुआ।

अन्तिम शब्दोंमें आचार्यवरसे उसने प्रार्थना की—मुझे आप महाव्रतोंकी आलोचना कराइये ; मैंने कोई त्रुटि की हो उसका प्रायश्चित्त दें।

आचार्यश्रीने स्वयं उसे महाव्रतोंकी आलोचना कराई। वह जीवन्मुक्त वालक आचार्यवरके चरण-कमलोंकी उपासना करता-करता समाधिलीन हो गया। उसकी कृतियां समूचे संघ और संघपतिके हृदयमें आज भी अमिट हैं और रहेंगी।

ऐसे प्रौढ वालक दीक्षाके लिए अयोग्य नहीं माने जा सकते।

दीक्षाके वारेमें आचार्यश्रीका दृष्टिकोण वहुत साफ है। जयपुर-चातुर्मास (वि० २००६) में वाल-दीक्षाका प्रबल विरोध हुआ। हालांकि वहां होनेवाली दीक्षाओंमें १५ वर्षसे कम आयु का कोई न था, फिर भी 'वाल-दीक्षा-विरोधी समिति' ने वड़ा उग्र आन्दोलन चलाया। आचार्यश्रीके अपूर्व कौशल और संघ-वलके सामने उन्हें सफलता नहीं मिली ; किन्तु परिस्थिति जटिल थी, इसमें कोई सन्देह नहीं। सचाई हमारे पक्षमें थी इसलिए परिणाम सदा हमारे अनुकूल रहा।

आचार्यश्रीका वह सूत्र कि "हम किसी अवस्थासे सम्वन्धित दीक्षाके समर्थक नहीं, योग्य दीक्षाके समर्थक हैं।" वहुत सफल रहा।*

* विस्तृत जानकारीकेलिए देखिए आचार्यश्री तुलसीकी 'जयपुर-यात्रा'।

दैनिक कार्यक्रम

जीवनका कार्यक्रम निश्चित होना चाहिए, यह एक संगत बात है। किन्तु इसके मूलमें यान्त्रिकता या जड़ता नहीं होनी चाहिए। मेरे नम्र मतानुसार कार्यक्रमकी निश्चितताका अर्थ यही होना चाहिए कि समय अफल न जाए, मनमें अस्तव्यस्तता न रहे, उसमें चैतन्य बना रहे। शत-प्रतिशत महत्त्ववाले कार्य के लिए अगर गौण कार्यकी समय-तालिका कुछ इधर-उधर हो जाय, तो उसमें अनिश्चितता जैसी क्या त्रुटि है। समयमें से सफलता निकले, यही आचार्यश्रीकी दिनचर्याका प्रमुख सूत्र है। उसकी साधारण रूपरेखा मैं पाठकोंके सामने रख दूं।

साधारणतया आप करीबन चार बजे उठते हैं। सबसे पहला कार्य होता है स्वाध्याय और आत्मचिन्तन। एक मुहूर्त्त

रात रहते-रहते आपके पार्श्ववर्ती साधु आपको वन्दन कर संघकी मर्यादाओंका आवर्तन करते हैं, वह आप स्वयं सुनते हैं। उसके बाद सूर्योदयसे कुछ पहले तक आत्मालोचन करते हैं। गांवसे बाहर दूर क्षेत्रमें शौचके लिए जाना यह भी एक खास बात है। इसमें श्रम, टहलना-घूमना आदि सहज ही हो जाते हैं। प्रातःकाल एक घण्टाके लगभग व्याख्यान देनेका समय है। भोजनमें बहुत कम समय लगाते हैं। आपके आहारकी दो बातें विशेष उल्लेखनीय हैं—संख्या और मात्रामें कम चीज और कम बार (सिर्फ दो बार) खाना तथा उसके स्वाद, अस्वादके विषयमें कुछ न कहना। आप आहारके बाद थोड़े समय हल्का-सा विश्राम करते हैं। उस विश्राममें भार न बने, ऐसे साहित्यका अवलोकन किया करते हैं। दिनमें सोनेका विशेष स्थितिके बिना काम नहीं पड़ता। करीब दो घण्टेका समय साधु-साध्वियोंके अध्यापनमें लगता है। करीब दो-ढाई घण्टे आगन्तुक व्यक्तियोंसे बातचीत, प्रश्नोत्तर आदिके लिए हैं। सामान्यतः दो घण्टे या श्रमके अनुपातमें कमबेशी मौन करते हैं। उस समय तथा शेष समयमें मनन, साहित्य-सृजन आदि निजी प्रवृत्तियां होती हैं। शामको फिर सूर्यास्तके बाद आत्मालोचन, प्रार्थना, कभी-कभी प्रार्थना-प्रवचन और स्वाध्यायके बाद करीब दश बजे आप शयन करते हैं।

पाठकोंको आश्चर्य होगा, सम्भव कोई भी न माने, किन्तु यह सच है कि संघकी व्यवस्थामें आपका अपेक्षाकृत बहुत कम समय

लगता है। कारण स्पष्ट है। आपका संघ 'तेरापन्थ' मूलतः आत्मानुशासनकी भित्ति पर खड़ा हुआ है। इसलिए उसे अपेक्षा आपके नेतृत्वकी ही है। आप स्वयं कई बार कहा करते हैं—

"हमारे पूर्वाचार्योंने बड़ी सुन्दर नियमावली बनाई है, इसलिए मुझे संघकी देख-रेख तथा विकासके अतिरिक्त व्यवस्था सम्बन्धी बहुत कुछ नहीं करना पड़ता।"

आप दैनिक कृत्योंको विकास और सफलताकी दृष्टिसे बहुत महत्त्व देते हैं।

वार्षिक कार्यक्रम

१ वर्षके दिन होते हैं करीब ३६०। घड़ियों और पलोंकी गिनती इससे भी बड़ी होती है। महापुरुषके कार्यकलाप इससे भी आगे डग भरते हैं। कल्पना और रूप-रेखाओंकी तो बात ही क्या? अगर मैं भविष्यद्द्रष्टा योगी या कल्पना-गृहका कुशल शिल्पी होता तो तूलिकाकी एक रेखामें सारा चित्र खींच डालता, किन्तु मैं वैसा नहीं जानता।

छोटा-मोटा आदमी स्थूल जगत्को ही अपना केन्द्र-बिन्दु माने चलता है। "तेते पांव पसारिये जेती लम्बी सोड़"—यह मुझे याद है। मैं बारीकीको छोड़ कर चलूं, इसमें मेरा उपहास नहीं होगा।

आचार्यश्रीका वार्षिक कार्यक्रम एक विशाल पोथी है। उसके

कुछ एक पृष्ठोंमें रंग भरूं, वही पर्याप्त होगा।

आचार्यश्रीकी वार्षिक-यात्रा नव-कल्पी विहारके रूपमें पूरी होती है। आजीवन पाद-विहार होता है और कहीं स्थायी आश्रम है ही नहीं। इसलिए चातुर्मास कालमें एक जगह चार मासकी स्थिति और शेषकालमें अष्टकल्पी विहार होता है—एक माससे अधिक कहीं नहीं रहते। मृगसर कृष्णा प्रतिपदाका दिन चतुर्मासान्त विहारका और मर्यादा-महोत्सवकी भूमिकाका दिन है।

मर्यादा-महोत्सव तेरापन्थ-संघकी एकता और संगठनका महान् प्रतीक-पर्व है। यह माघ शुक्ला सप्तमीको होता है। उस दिन आचार्यश्री मर्यादापुरुषोत्तम आचार्य भिक्षुकी रची हुई मर्यादा सुनाते हैं। सब साधु-साध्वियां उनकी प्रतिज्ञाओंको दोहराते हैं—अपनी सहर्ष सम्मति प्रगट करते हैं।

जहां आचार्यश्री होते हैं, वहां साधु-साध्वियां आ जाते हैं। आनेके पहले क्षणमें जो 'सिंघाड़ा'[1] के मुखिया होते हैं, वे पुस्तकों और अपने पास रहे साधु-साध्वियों तथा अपनेआपको आचार्यश्री के चरणोंमें समर्पण करते हैं। समर्पणकी शब्दावली यह होती है—"गुरुदेव! आपकी सेवामें ये पुस्तकें प्रस्तुत हैं, ये साधु या साध्वियां प्रस्तुत हैं, मैं प्रस्तुत हूं, आप मुझे जहां रखेंगे, वहां रहनेका भाव है।"

१—साधारणतया एक सिंघाड़ेमें ३ साधु अथवा ५ साध्वियां होती हैं।

बाहरसे आये हुये साधु-साध्वियां अपना वार्षिक कार्य-क्रम का विवरण-पत्र आचार्यश्रीकी सेवामें प्रस्तुत करते हैं।

लगभग १२५ विवरण-पत्रोंका आचार्यश्री स्वयं निरीक्षण करते हैं। उनकी व्यवस्था करते हैं। प्रत्येक 'सिंघाड़े' की चर्या और रहन-सहनका मौखिक विवरण सुनते हैं।

शिशिर-ऋतु जनताके लिए शरीर-पोषणका काल है, तेरापंथ के लिए ऐक्य-पोषणका और आचार्यश्रीके लिए श्रमका काल है।

वसन्त पंचमीसे आगामी वर्षकी व्यवस्था शुरू होती है। वह दृश्य बड़ा मनहारी होता है, जब आचार्यश्री साधु-साध्वियोंको आगामी वर्षके विहारका आदेश देते जाते हैं और वे कर-बद्ध खड़े हो उसे स्वीकार करते जाते हैं। साहित्य-सृजन, अध्ययन-अध्यापन, लेखन आदिकी वार्षिक व्यवस्था यहींसे बनती है। एक प्रकारसे महोत्सवके दिन नये वर्षके आदि दिनके प्रति-रूपक हैं।

महोत्सवके बाद आगामी वर्षका जीवन-सम्बल ले साधु-साध्वीगण निर्दिष्ट-यात्राकी ओर कूच कर जाता है। आचार्यश्री के विहारका भी नया क्रम प्रारम्भ हो जाता है जो लोग आचार्य-श्रीकी निकट सम्पर्कमें सेवा करना चाहते हैं, उनके लिए फाल्गुन और चैत्र मास अधिक उपयुक्त होते हैं। प्रातःकालीन व्याख्यान प्राय १२ मास चलता है। गांवके लोगोंको कम मौका मिलता है इसलिए विहार-कालमें दोपहर और रातको भी आचार्यश्री स्वयं व्याख्यान देते हैं। सैकड़ों गांवोंका विहार, हजारों लाखों

लोगोंका आवागमन, हजारों व्यक्तियोंसे वातचीत और प्रश्नोत्तर आदि २ प्रवृत्तियां आपके लिए सहज जैसी हैं। आपको विश्राम करनेकी जितनी प्रार्थना सुननी होती है, उसका शतांश भी विश्राम करनेका अवसर नहीं मिलता। आप कहते हैं—"मैं जो काम करता हूं उसमें मुझे पूरा रस मिलता है। हमारे साधुओंको प्रत्येक कार्यमें उत्साह और आनन्द होता है—होना चाहिए। इसलिए अलग विश्राम करनेकी फिर क्या आवश्यकता?" यह वात भगवान् महावीरकी "ननत्थ निज्जरट्ठयाए" केवल आत्म-आनन्दके लिए करो – वाली शिक्षाकी याद दिला देती है।

आपकी ज्ञान-रश्मियोंका आलोक और व्यक्तित्व जनताके लिए महान् आकर्षणके हेतु हैं। समयकी खींचातानीमें भी कई व्यक्ति आपका सफल समय मात्रासे अधिक लेते हैं, तब दूसरोंको अखरे बिना नहीं रहता। वे अपनी मनोभावना आपके कानों तक पहुंचा देते हैं। उत्तर मिलता है – "कोई व्यक्ति मेरे साथ ही बातचीत करनेको विशेप उत्सुकता लिए आता है, तब मैं उसे निराश कैसे करूं।" एक विशाल संघके शक्तिसम्पन्न नायक इतने सामीप्यसे बात करें, एक-एक व्यक्तिको समझावें; गणके इतिहाससे लेकर निगूढ़ रहस्य तक बतायें—यह एक आश्चर्यकी बात है और कार्यभारको अधिक गुरुत्व देनेवाली कथा है। अनेक आध्यात्मिक आयोजनोंका संचालन करनेके अतिरिक्त आप अनेक उन्नायक प्रवृत्तियोंके स्रोत भी बनते हैं। आपकी हार्दिक हिलोरें सचमुच दूसरोंको अचम्भेमें डालनेवाली होती हैं।

वे दूसरोंके लिए तभी सम्भाव्य बनती हैं, जब आपकी सतत साधना उन्हें सम्पन्न किये देती है।

चतुर्मासमें दो महत्त्वपूर्ण उत्सव होते हैं—एक भाद्र शुक्ला नवमीको आपके पट्टारोहण-दिनके उपलक्षमें दूसरा भाद्र-शुक्ला त्रयोदशीको आचार्य भिक्षुके चरम-दिनकी पुण्य स्मृतिमें। इनमें साधु-साध्वियोंका वह स्फूर्तिदायक मिलाप नहीं होता, बाकी सारा कार्य-क्रम माघ-महोत्सवकी स्मृतिको ताजा करनेवाला होता है। विशेष बात नवमीको पूर्ववर्ती ८ आचार्योंका ससम्मान प्रतिनिधित्व करते हुए आप जो नीति सम्पादन करते हैं, तब आपका व्यक्तित्व बहुमुखी-सा प्रतीत होता है। तेरसको आप आचार्य भिक्षुको श्रद्धांजलि अर्पण करते-करते स्वयं आचार्य भिक्षु बन जाते हैं। उनकी आत्मा आपमें प्रतिबिम्बित हो उठती है। उनका त्याग और आत्म-उत्सर्ग साकार हो बोल उठता है। जैसा कि श्री हरिभाऊ उपाध्याय (अजमेर राज्यके मुख्य मन्त्री) ने अपने एक *पत्रमें लिखा है—

"पूज्य स्वामी भिक्षुजीके [illegible] और आपका आजका तद्विषयक व्याख्यान मुझे बहुत प्रभावकारी मालूम हुआ। ऐसा लगा मानो उनकी आत्मा आपमें बोल रही हो।"

आचार-विचार, साहित्य-संस्कृति, कला-कौशलका उन्नयन करनेके साथ-साथ कठोर चर्या, उत्कट अनासक्ति, उपवास, मौन

---

* ता० १४-९-५१

अल्प-आहार आदि अनेक सात्त्विक प्रेरणाओंको संजीवन दिये महान् वर्ष पूरा हो जाता है और आगेके लिए अधिक अवकाश और अधिक संभावनायें छोड़ जाता है।

सत्य-निष्ठा

आप प्रत्येक व्यक्तिको, चाहे वह कैसा ही हो, अपने मन्तव्य बड़ी निर्भीकतासे बताते हैं। लोग दया-दानकी प्रवृत्तिको लेकर आपकी परम्पराप्राप्त विचार-पद्धतिपर आक्षेप करते हैं, उसे आप आगन्तुकके सामने सहज भावसे रखते हैं। सर पेट्रिक स्पेंशको आपने दया-दान सम्बन्धी विचार बताये, तब कई कट्टरपन्थी लोगोंको भी यह कहते सुना कि आचार्यश्री अपने विचार रखनेमें नहीं चूकते, चाहे कोई भी आये।

अभी थोड़े समयकी बात है, कलकत्ता विश्वविद्यालयके प्रोफेसर डा० नवलक्षनाथ दत्त एम० ए०; बी० एल० पी० आर-एस०, पी० एच० डी०, डी० लिट् आचार्यश्रीके दर्शन करने आये।

वार्तालापके दौरानमें आचार्यश्री* ने दान-दयाका विवेचन करते हुए बतलाया।

"पापाचरणसे अपनेको बचाना, दूसरोंको बचाना यही नैश्चयिक दया है—आध्यात्मिक अनुकम्पा है। दीन-दुःखियों पर दया दिखाकर उनकी भौतिक सहायता करना, जीवन-रक्षा करना सामाजिक तत्त्व है। समाजके व्यक्ति जीवित रहें, सुखी रहें, सुखसे जीएं—यह सामाजिकोंका दृष्टिवेध है। अतः अपने दूसरे सामाजिक भाईकी सहायता करना सामाजिक कर्तव्य है। उसे धर्मसे क्यों जोड़ा जाय ? धर्ममें जीने जिलानेका महत्त्व नहीं है। उसमें उठने उठानेका महत्त्व है। आज सर्वत्र 'जीओ और जीने दो, की तूती बोलती है, किन्तु हमारा नारा इससे प्रतिकूल है। वह है—उठो और उठाओ—स्वयं उठो—आत्मोत्थान करो और दूसरोंको उठनेकी प्रेरणा दो, उनके सहायक बनो।

एक व्यक्ति कहीं जा रहा है। रास्तेमें चींटी आ गई। 'चींटी को कुचलकर मेरी आत्मा पापलिप्त न हो जाय' यह सोच वह अपना पैर खींच लेता है। उसकी आत्मा उस सम्भावित हिंसा-जन्य पापसे बच जाती है, साथमें प्रासंगिक रूपसे चींटीके प्राण भी बचते हैं। अब प्रश्न होता है कि उस व्यक्तिने अपने प्रति दया की या चींटीके प्रति ? अपनेको पापसे बचाया, यह दया है

---

* जैन भारती वर्ष १२ अंक १३ मार्च १९५१ 'आत्मा और दयादान' शीर्षक लेखसे।

अथवा चींटीके प्राण बचे, वह दया है ? यदि कोई कहे कि चींटी का बचना दया है, तो कल्पना कीजिए उस समय तूफान (आंधी) आ गया, चींटी उड़ गई अथवा उसी समय वह चींटी किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा कुचल दी गई, तो क्या उसकी दया नष्ट हो गई ? गम्भीरतासे सोचने और मनन करनेका विषय है, वास्तव में उसने अपने आप पर दया की।"

प्रोफेसर—यह वस्तुतः बड़ा मौलिक और तात्त्विक सिद्धान्त है। अबतक हम यही सुनते, समझते और पढ़ते आये हैं—'स्वयं जीओ और जीने दो,' किन्तु आज आपसे यह समझकर प्रसन्नता हुई कि वास्तविक दृष्टि कुछ और है। जीने, जीने देने और जिलानेका क्या महत्त्व है, वास्तविक महत्त्व तो उठने तथा उठानेका ही है, तथा इसी प्रकार तत्त्वतः दया अपनेआपके प्रति ही होती है।

आचार्यश्री—धार्मिक जगत्‌में लोगोंने 'दान' का बड़ा दुरुपयोग किया। जिस किसीको दे देना ही दान है—धर्म-पुण्यका हेतु है, यह धारणा धार्मिक जगत्‌में बद्धमूल हो गई। किन्तु जैन-विचारधारा इसके प्रतिकूल है। आचार्य भिक्षुने बताया है—दानके सच्चे अधिकारी सन्यासी—संयमी साधु हैं, जो आत्म-साधनाके महान् लक्ष्यको पूरा करनेमें लगे रहते हैं, जो पचन-पाचन तथा उत्पादन आदिसे निरपेक्ष और निःसंग

हैं। उनके संयमी जीवनके लिए उपयोगी अन्न, वस्त्र आदि सामग्री (स्वयं अपने लिए संकोच कर) देना धर्म-दान है।

प्रोफेसर—ऐसा लगता है, आपका दान विषयक विचार पुरातन-कालीन जैन परम्परासे विपरीत जाता है।

आचार्यश्री—पुरातनकालीनसे नहीं, मध्यकालीन से। पुरानी जैन परम्परा तो यही थी। संयमोपवर्द्धक दानके अतिरिक्त अन्य किसी भी दानको उसने अध्यात्मदान नहीं माना। किन्तु मध्ययुगमें ऐसी स्थिति आई, जबकि येन केन प्रकारेण याचकोंको कुछ न कुछ दे देना ही धर्म-कोटिमें माना जाने लगा। सम्भव है समाजशास्त्रियोंने समाजकी आवश्यकताओं की पूर्तिके लिए इसको धर्मसे जोड़ दिया हो। प्रबल परिस्थितियोंके वेग तथा अन्य संस्कृतियोंके प्रसार-पूर्ण वातावरणसे जैन भी अपनेको अछूता नहीं रख सके। उनको भी लोक-प्रवाहमें वहना पड़ा। दीन दुःखियोंको दिये जानेवाले दानको उन्होंने भी पुण्य दानमें समाविष्ट कर लिया।

प्रोफेसर—ये सिद्धांत बड़े सूक्ष्म एवं बारीकीपूर्ण हैं। आपकी दान-परम्परा भिक्षाविरोधी युगके लिए बहुत उपयोगी है।

स्फुट प्रसंग

आचार्यश्री के दैनिक क्रममें योगासन भी एक प्रवृत्ति है। समयकी खींचातानमें आप प्रायः उसके लिये समय निकालते हैं। हलासन, सर्वांगासन, पद्मासन, अर्द्धपद्मासन, ये आपके प्रिय आसन हैं।

योगासन और आसन-प्रयोग

अधिक औषध-सेवन को आप बहुत बुरा मानते हैं। यथा-संभव आप औषधि नहीं लेते। जुकाम, ज्वर आदि साधारण स्थितिका प्रतिकार प्राकृतिक साधनोंसे ही करते हैं। प्राकृतिक चिकित्साके प्रति आपका विश्वास है।

आप बहुत बार साधु-परिषद्में यह समझाते हैं कि अगर मात्रा और संख्यामें कम वस्तुएं खाईजाएं तो दोषज रोग होने

की विशेष संभावना ही नहीं रहती। आप अधिक बार संख्या में ६-७ चीजोंसे अधिक नहीं खाते-पीते हैं। उनकी भी मात्रा इतनी परिमित होती है कि दूसरोंको आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। व्यवहारमें उपवासकी अपेक्षा ऊनोदरी* करना कठिन है। आपकेलिए वह सहज बनगया, इसमें कोई सन्देह नहीं।

बीकानेर स्टेटमें ओसवाल समाजमें 'देशी-विलायती' का ऐसा दुर्भाग्यपूर्ण सामाजिक कलह पैदा हुआ, जिससे समाजको अकल्पनीय क्षति उठानी पड़ी। और क्या,

असंगठन की निष्पत्ता— क्षमायाचनाका महान् प्रयोग

उससे समाजकी शृङ्खला टूटगई, नींव हिल-सी गई! वर्षों बाद वह ठण्डा पड़गया, फिर भी उसके बीज निर्मूल नहीं हुए। सामूहिक भोजन आदिके भेद-भाव नहीं मिटे। आखिर उसकी समाधि के दिन आये। ६६ के चूरू-चौमासेमें आपने इस कार्यको हाथमें लिया। लोगोंको समझाया। एकता और संगठनकी आवश्यकता बताई।

आपने कहा—और सब जाने दो, विश्वमैत्रीके महान् प्रतिष्ठाता भगवान् महावीरके अनुयायी यों अमैत्री रक्खें, यह शोभा नहीं देता। भगवान् महावीरने हमें अमैत्रीको मिटानेका ऐसा सुन्दर मार्ग दिखाया है, जिसमें किसीको मानसिक असुविधा भी नहीं होती। सूत्रोंकी भाषामें वह है 'क्षमत-क्षमापणा'। सीधे

---

* भूख से कम भोजन

शब्दों में—अपना रोष शान्त करना और अपने प्रति रोष हो, उसे मिटाने की प्रार्थना करना। दोनों व्यक्ति समान भूमिका पर क्षमत और क्षमापण करें। वहाँ हल्की-भारी, ऊँची-नीची रहो, इसका कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

दोनों दलों के व्यक्ति आचार्यश्री से मार्ग-दर्शन पा कलह का अन्त करने को तैयार हो गये। थोड़े दिनों बाद आचार्यश्री के समक्ष दोनों ओर के व्यक्ति आगये। आचार्यश्री ने उन्हें फिर 'मैत्री' का महत्त्व समझाया। एक गीतिका रची। उसके द्वारा लोगोंको मैत्री के संकल्प को दृढ बननेकी प्रेरणा दी। उसके कुछ पद्य यों हैं:—

"खमत-खमावण सुखाधारनो,
अर्थ अनोखो झांखो।
परनो गमण नमण तिम निजनो,
भ्रमण मिटै उभया को॥
भूलो भूतकालनी भूलाँ,
आगामी अनुकूलो।
थारी म्हांरी हलकी भारी,
मत को झगड़ै झूलो॥
फांदा छूंत उखंल्या सेती,
मूल हाथ नहिं आवै।
होय सरल चित सद्गुरु आगल,
गुणिजन गुनह खमावै॥"

आचार्यश्री की अन्तर-आत्मा ने लोगों को इतना खींचा कि सब पिछली काली पंक्तियोंको भूलकर एकमेक हो गये। चारों ओर 'खमत-खामणा' की ध्वनि गूंज उठी। समाजके शिरकी वह अशुभ्र रेखा सदाके लिए मिट गई। वह आश्विन शुक्ला १३ का दिन था! वह कलह चूरूसे ही उठा था और उसकी अन्त्येष्टि भी वहीं हुई, यह एक स्मरणीय बात है।

आचार्यश्रीका जीवन आध्यात्मिक तत्त्वोंके परीक्षणकी एक विशाल प्रयोगशाला है। बोल-चाल, रहन-सहन, बात-व्यवहार, खान-पान आदिमें संयमका अनुत्तर विकास कैसे किया जाय? यह प्रश्न आपके मनकी परिधि का मोह छोड़ता नहीं। अपनी वृत्तियोंसे दूसरों को कष्ट न हो, इतना ही नहीं किन्तु अपने आप में भी इन्द्रियाँ और मन अधिक समाधिवान् रहें, इसी भावनासे आपका चिन्तन और उसके फलित प्रयोग चलते ही रहते हैं। यों तो आपने समूचे गणको ही प्रयोग-केन्द्र बना रक्खा है।

आध्यात्मिक प्रयोग

गणकी व्यवस्था करनेमें प्रायश्चित्त और प्रोत्साहन ये साधन उपयोगमें आते हैं। गलती करनेवालेको उलाहना कम या अधिक, रूखे शब्दोंमें या मृदु शब्दोंमें, एकान्तमें या सबके सामने कैसे दियाजावे—इन विकल्पोंका आप एक-एक गण-सदस्यपर प्रयोग करके देखते हैं। जिस प्रयोगका जिसपर स्थायी असर होता है, अपनी भूलोंसे छुट्टी पानेकी शक्ति पाता है, उसकी विशुद्धिमें उसी का प्रयोग होता है। तपस्या, उपवास आदि प्रायश्चित्त के विविध

पहलुओंकी भी यही बात है। कईबार इस तथ्यको पकड़नेमें साधुओंको भी सन्देह हो जाता है। कठोरताकी आशंकामें मृदुता और मृदुता की आशंकामें कठोरता या वे कभी-कभी सोचने लगते हैं कि क्या बात है? आचार्यश्री कठोरताको काम में ही नहीं लाते, और कभी-कभी यह अनुभव होने लगता है कि आपके पास मृदुता नामकी कोई वस्तु है ही नहीं।

प्रोत्साहनके दोनों अंग प्रशंसा और अनुग्रहकी भी यही गति है। किसीको साधारण कार्यपर ही प्रशंसा या अनुग्रह अथवा दोनोंसे प्रोत्साहित कर देते हैं तो कोई असाधरण कार्य करके भी कुछ नहीं पाता।

आचार्यश्री ने एक बार अपनी कार्यप्रणाली पर प्रकाश डालते हुए कहा :—

"मेरे कार्यक्रमका मूल आधार है व्यक्ति का विकास। मैं जिसप्रकार जिस व्यक्तिके लाभ होता देखता हूं, उसके साथ उसी तरीकेसे बरतता हूँ। इसलिए इसमें किसीको अधिक कल्पना करनेकी जरूरत नहीं है।"

आहारसे प्रयोग निरन्तर चलते हैं। कईवार दो-दो सप्ताह तक आपके आहारमें सिर्फ शाक-रोटी ही होती है। अमुक वस्तु खाने या न खानेसे शरीर तथा मन पर क्या असर होता है, इसकी एक लम्बी सूची आपके अनुभव में है।

आहार-प्रयोग

स्वाद-वृत्ति साधुके लिए निपिद्ध है, वह तो है ही; उसके

अतिरिक्त आपने खान-पानके सम्बन्धमें वाणी और मन पर जो नियन्त्रण कर रखा है, वह 'नचित्रम्' जैसा है। शाकमें नमक अधिक या कम हो, दूसरी कोई वस्तु कैसी ही हो, उसके बारेमें आहार कर चुकनेसे पहले कुछ कहना तो दूरकी बात किन्तु भाव तक नहीं बताते।

आपकी शिक्षामें बार-बार यही स्वर मिलता है :—

"भोजनके सम्बन्धमें अधिक चर्चा करना— अच्छा बुरा कह गृद्ध होना, नाक-भौंह सिकोड़ना मैं गृहस्थके लिए भी ठीक नहीं मानता, साधुके लिए तो यह सर्वथा अवाञ्छनीय है।"

आत्म-निरीक्षणसे आचार्यश्रीका नैसर्गिक प्रेम है। आपने

आत्म-निरीक्षण

एक बार आप साधुओंको शिक्षा देते हुए कहा :—

"छद्मस्थसे भूल हो जाय, यह कोई आश्चर्य नहीं। आश्चर्य वह है, जो भूलको भूल न समझ सके। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको सम्हाले, अपनी भूलोंको टटोले। भूल सुधारका यही सर्व-श्रेष्ठ साधन है। भगवान् महावीरके शब्दोंमें :—

'से जाणमजाणं वा,
कट्टु आहम्मियं पयं।
संवरे खिप्पमप्पाणं,
बीअं तं न समायरे॥

अर्थात् जानमें, अजानमें कोई अनाचरणीय कार्य हो जाय तो साधुको चाहिए कि तुरन्त अपनी भूल देखे, आत्माका संवरण

करे, भविष्यमें फिर वह कार्य कभी न करे।"

आत्म-नियन्त्रणके लिए आपने 'दशवैकालिकसूत्र' की दो चूलिकाएं नियुक्त कीं। संयमीके लिए उनका वह स्थान है, जो घोड़ेके लिए लगाम, हाथीके लिए अंकुश और नौकाके लिए पताका का है। आपका मानस समुद्रके समान है, जो कि मर्यादामें रहते हुए भी उत्ताल ऊर्मियोंका साथ नहीं छोड़ता। पौद्‌गलिक पदार्थों के प्रति आप जितने सन्तुष्ट हैं, उससे कहीं आत्म-जागरणके प्रति असन्तुष्ट हैं। इसी असन्तुष्टिसे 'आत्मचिन्तनम्', 'चिन्तनके तेरह सूत्र' और 'कर्तव्य-षट्-त्रिंशिका' जैसे प्रसन्न मार्ग आपके द्वारा साधुओंको मिले।

गृहस्थोंके प्रति भी आप उदासीन नहीं हैं। उनके लिए भी आपने 'आत्म-निरीक्षणके तिरेपन बोल' लिखे। आपके अविरत प्रयत्नोंसे इस दिशामें एक नया स्रोत चला है। सिद्धान्तकी भाषा में कहूं तो आध्यात्मिक चेतनाकी उत्क्रान्ति हुई है।

विरोधको हंसते-हंसते सहना यों तो तेरापन्थका नैसर्गिक भाव है, उसमें भी आचार्यश्रीकी अपनी निजी विशेषता है। आप

विरोधके प्रति मैत्री

न विरोधसे घबड़ाते हैं और न उसे बढ़ावा देते। किन्तु उपेक्षाके द्वारा उसे निस्तेज बना देते हैं।

क्षमा और शान्तिके उपदेशका दूसरों पर कैसा असर होता है, वह आप एक छोटी सी घटनासे जान सकेंगे :—

आचार्यश्रीने धर्मप्रचारके लिए काठियावाड़ (सौराष्ट्र) में

साधुओंको भेजा। वहां कई जैनोंने कड़ा विरोध किया। वातावरण काफी उग्र बन गया। उन दिनों वहांसे रतिलाल मास्टर आचार्यश्रीके दर्शन करने आया। वह वहां साधुओंके विहार का प्रेरक था। इसलिए कई प्रकारकी कल्पनाओंको लिए हुए आया। सकुचाते हुए आचार्यश्रीके दर्शन किये। आचार्यश्री ने पूछा—कहिये क्या बात है? प्रचार-कार्य ठीक चल रहा है? मास्टरने उत्तर देते हुए कहा—महाराज! काम ठीक चल रहा था किन्तु विरोधी वातावरणके कारण वह कुछ धीमा हो चला है और साधुओंको भी बड़ी कठिनाइयां झेलनी पड़ रही हैं। आपने पूछा—साधुओंमें कोई घबड़ाहट तो नहीं है? मास्टरने कहा—नहीं, बिल्कुल नहीं। आचार्यश्रीने कहा—अपनी ओरसे पूर्ण शान्ति रखनी चाहिए। अपना मार्ग शान्तिका मार्ग है। विरोध विरोधसे नहीं, शान्तिसे ही मिटेगा। आचार्यश्रीकी उपदेश-वाणी सुन रतिलाल भाई बोला—गुरुदेव! मैं इस धारणाको लिए हुए आया था कि वहां पहुंचते ही आचार्यश्री मुझे उलाहना देंगे। काठियावाड़में साधुओंके साथ जो व्यवहार किया जारहा है, उसके कारण आचार्यश्रीके मनमें अवश्य रोष होगा। किन्तु यहां आनेपर मुझे कुछ और ही मिला। आप प्रत्युत हमें शान्ति रखनेका उपदेश दे रहे हैं।

इसका उसके मनपर इतना असर हुआ कि वह आचार्यश्री के प्रति गाढ निष्ठावान् बन गया।

सं० २००६ की बात है। मुनिश्री घासीरामजी और मुनिश्री

डूंगरमलजी ये दो सिंघाड़े काठियावाड़ (सौराष्ट्र) में थे। विरोध काफी प्रबल था। चौमासा नजदीक आगया, फिर भी स्थान न मिला। चौमासा कहां हो, इसकी बड़ी चिन्ता हो रही थी। वहांसे कई व्यक्ति चाड़वास पहुंचे। आचार्यश्रीसे सबकुछ निवेदन किया। आप कुछ क्षण मौन रहे। उनके मनोभाव कुछ असमञ्जस थे। क्या होगा ? इसकी कुछ चिन्ता भी थी। किन्तु आचार्यश्रीने इस भावनाको तोड़ते हुए कहा:—

आत्म-बल और सात्विक प्रेरणाएँ

"यद्यपि वहां साधु-साध्वियोंको स्थान और आहार-पानीके लिए बड़ी कठिनाइयां झेलनी पड़रही हैं; फिर भी उन्हें घबड़ाना नहीं चाहिए। मुझे विश्वास है, मेरे साधु-साध्वियां घबड़ाने वाले हैं भी नहीं। उन्हें भिक्षुस्वामीके आदर्शको सामने रखकर दृढ़ताके साथ कठिनाइयोंका सामना करना चाहिए। जहां कहीं जैन, अजैन, हिन्दू, मुस्लिम कोई स्थान दें, वहां रहजाएँ अगर कहीं न मिले तो श्मशानमें रहजाएँ। उन्हें वहां रहना है, सत्य-अहिंसात्मक धर्मका प्रचार करना है।"

आचार्यश्रीके इन स्फूर्तिभरे शब्दोंने न केवल खिन्न श्रावकोंमें चैतन्य ही उँडेल दिया, बल्कि साधुओंको भी इससे बड़ी प्रेरणा मिली। वे सब कठिनाइयोंके बावजूद भी अपना लक्ष्य साधते रहे।

चौबीस दिन पूरे बीतगये। फिर भी पार्श्ववर्ती साधु कुछ समझ नहीं सके। आचार्यश्रीका अल्पाहार सबको विस्मयमें

डाले हुए था। २५वें दिन यह रहस्य खुला। काठियावाड़ (सौराष्ट्र) से समाचार आये—लोगोंकी भावनामें यकायक परिवर्तन आया है, चातुर्मासके लिए वांकानेर और जोरावरनगरमे स्थानका प्रबन्ध हो गया। साध्वी रूपांजीको पहले ही चूड़ामें स्थान मिल चुका है। और सब व्यवस्था ठीक है। आचार्यश्रीने साधु-साध्वियोंके बीच वहांके साधु-साध्वियोंके साहसकी सराहना करते हुए कहा—देखो वे कितने कष्ट झेल रहे हैं। हमें यहां बैठे-बैठे वैसा मौका नहीं मिलता। फिर भी हमारो और उनकी आत्मानुभूति एक है। इन कई दिनोंसे मेरे अल्पाहारको लेकर एक प्रश्न चल रहा। किन्तु मैं पूरा आहार लेता कैसे ? मेरे साधु-साध्वियां वहां जो कठिनाई सह रहे हैं, उनके साथ हमारी सहानुभूति होनी ही चाहिए।

आचार्यश्रीकी सात्त्विक प्रेरणासे वहांकी भूमि प्रशस्त हुई, यह पहले किसने जाना। • •

रतननगरमें ६ विद्यार्थी साधुओंने आचार्यके पास व्याकरणकी साधनिका शुरू की। दिनमें समय कम मिलता था, इसलिए वह मनोविनोद रातको चलती थी। साधनिका प्रारम्भ करते हुए आचार्यश्रीने एक श्लोक रचा :—

"नव मुनयो नवमुनयः,
कर्तुं लग्ना नवां हि साधनिकाम्।
नवमाचार्यसमक्षे,
नहि लप्स्यन्ते कथं नवं ज्ञानम्॥"

पाठक जानते हैं कि संस्कृत-व्याकरण नये छात्रोंके लिए अति रूखा विषय है। कालुगणीके शब्दमें 'अलूणी शिला' चाटना है। किन्तु नीरसमें रस भरनेकी कला आचार्यश्रीका नैसर्गिक गुण है। साधनिकाके साथ साथ नित नए मनोविनोद चलते रहते। जिससे मिठासके कलेवरमें कड़वी घूंट भी अरुचिकर नहीं होती। इस प्रसंगमें आचार्यश्रीने विद्यार्थी साधुओंका उत्साह बढ़ानेको तत्काल १३ श्लोक रचे, वे बड़े स्फूर्तिदायक हैं। मनो-विनोदके साथ प्रेरणासे भरेपूरे हैं। यथाः—

गुप्तिव्योमाभ्रनेत्राब्दे, मासे फाल्गुननामके।
प्रारब्धा रत्ननगरे, भूतेष्टायां दलेऽसिते ॥१॥

निशायां कालूकौमुद्या, जायते साधुसाधना।
तुलसीगणिनः पार्श्वे, रामदुर्गे पुरेऽधुना ॥२॥

नवानाञ्चापि शिष्याणां, क्रियते नामकीर्तनम्।
येनोत्साहो विवर्द्धेत, बालानां पठने ध्रुवम् ॥३॥

कन्हैयालाल एकस्तु, शुभकर्णः शुभेच्छुकः।
स्मेराननः सुमेरश्च, मोहनो मुदिताशयः ॥४॥

ताराचन्द्रस्तु तूष्णीको, मांगीलाल्लोऽल्पलालसः।
गुणमुक्तादनो हंसः, सुखलालः सुखाभिकः ॥५॥

रूपोऽन्वेष्टा स्वरूपस्य, सर्वे सम्मिलिता नव।
प्राप्तुं विद्योदधेरन्तं, गुरावुद्युञ्जते सदा ॥६॥

ज्येष्ठभ्राता मुनिश्चम्पो, बालानां पाठहेतवे।
प्रयत्नं कुरुते नित्यं, शिक्षाञ्चार्पयतीप्सिताम् ॥७॥

शिष्याः समागताः सर्वे, किं कर्तुं साधनां शुभाम् ।
भाविनो प्रार्थना पद्धा—दल्पोऽनेहा निरीक्ष्यते ॥८॥
यदा चित्त-प्रसत्तिः स्यात्, सुलभा श्लोकनिर्मितिः ।
विपर्यासोऽन्यथा स्पष्टं, किं शिष्यैरपि नेक्ष्यते ॥९॥
मध्याह्ने समधीयाते, साध्व्यौ व्याकरणं सदा ।
तयोर्धनकुमार्येका, चान्या रत्नकुमारिका ॥१०॥
वृत्तिश्चापरवेलाया—माचाराङ्गस्य पठ्यते ।
सम्मील्य बहुसाध्वीभिः, कां कामाख्यां वदाम्यहम् ॥११॥
लाडां सत्यप्रणी तासां, साहाय्यं कुरुते सदा ।
साहाय्यमन्तरेणात्र, विद्याबोधिः सुदुर्लभा ॥१२॥
त्रयोदशानां श्लोकानां, निर्माणं कृतवानिदम् ।
शीघ्र मनोविनोदाय, शिष्यबोधाय साग्रहम् ॥१३॥

व्यक्ति बड़ा नहीं होता। बड़ा होता है उसका व्यक्तित्व। वह क्या है ? इसे शब्दोंकी सीमा और परिधिमें बांधना सहज नहीं। फिर भी उपयोगिताकी दृष्टिसे हम मान लेते हैं—व्यक्तित्व यानी जीवनका उपयोग।

महान् व्यक्तित्व

दुनियां स्वार्थी ठहरी। वह उसीका व्यक्तित्व स्वीकार करती है, जिसके जीवनका उसके लिए उपयोग हो। जिसमें उच्च प्रतिभा चरित्र-बल और आकर्षण नहीं होता, वह अपने जीवन-पुष्पको उपयोगके धागेसे नहीं जोड़ सकता। इसलिए हमें व्यक्तित्वका फलित अर्थ करना चाहिए—प्रतिभा, चरित्र और आकर्षणकी असाधारणता।

आचार्यश्री तुलसीका व्यक्तित्व, जो बहुत वर्षों तक अपने आपमें समाये रहा, निखरता जा रहा है। सब क्षेत्रोंमें उसके प्रति पूजा, प्रतिष्ठा और सम्मानकी भावना है। पर क्यों है? इस पर भी एक सरसरी दृष्टि डाललेनी चाहिए।

आप एक सन्त हैं, आचार्य हैं, आध्यात्मिक क्रान्तिके वाहक नेता और अहिंसक समाजके अग्रणी हैं। हमें उनका व्यक्तित्व स्वीकार करनेसे पहले मुड़कर देखना होगा कि क्या इस भौतिक युगमें आपके जीवनका कुछ उपयोग है? क्या विद्युत्-यन्त्रोंकी चकाचौंधमें अध्यात्मकी किरणें कुछ कर सकेंगी? इसका उत्तर देना कठिन है, यह नहीं मानना चाहिए।

परिस्थितियोंके उतार-चढ़ावमें रथका पहिया किधर घूमेगा, यह कौन जान सकता है।

आचार्यश्रीने जनताके जीवन-शोधनके लिए चारित्र्यका आश्रयण नहीं किया है। आपके सहज जीवन-शोधनसे जनताको उसकी प्रेरणा मिली है। इसीलिए यह परमार्थकी भूमिकामें रहकर भी जन-जीवनको जगानेवाला महामन्त्र है। अन्न, वस्त्र, मकान आदि सुलभ करनेवाला ही जनताके लिए उपयोगी है, यह मानना उतनी बड़ी वज्रभूल है, जितनी कि एक वज्रमूर्ख ही कर सकता है।

चारित्र-बलके बिना उक्त पदार्थोंसे सिर्फ जीवन चल सकता है, शान्ति नहीं मिल सकती। मानवका ध्येय पशुकी तरह जीवन चलाना ही नहीं होता। उसके लिए शान्ति और विकासके द्वार खुले रहते हैं। हम इस तत्त्वको समझ गये तो आचार्यश्रीके जीवन

का उपयोग समझना बाकी नहीं रहेगा।

भूतवादने मनुष्यको शान्तिकी रट लगानेमें पागल बना रक्खा है। शान्तिके लिए वह युद्धकी चक्कीमें पिसता जा रहा है। युद्धसे मेरा तात्पर्य, दो शत्रु देशोंके बीच होनेवाले युद्धसे नहीं, जीवन-व्यापी दैनिक युद्धसे है। एक देश, एक समाज और परिवारके व्यक्ति भी परस्पर गिद्धदृष्टि लगाये बैठे हैं। एक दूसरेका शोषण और प्रताडन कर रहे हैं। यह सबसे खतरनाक युद्ध है। बड़े युद्ध की आदत इसीसे पड़ती है। खेद! राष्ट्रवादकी चहारदीवारीमें पलनेवाले बड़े-बड़े दिमाग इस ओर नहीं मुड़े। मुड़नेकी बात ही क्या, दिशा-यन्त्रकी सुई दूसरी ओर घूम रही है। आत्म-शोधनका लक्ष्य नहीं, सिर्फ शासन-सूत्रको ठीक ढंगसे चलानेके लिए चरित्र बल चाहिए। अपने बचावके लिए अहिंसा तथा शोषणका जुआ दूर फेंकनेके लिए अपरिग्रह भी बड़ा मीठा लगता है। दूसरों पर आक्रमण और शोषण करते समय वे याद तक नहीं आते। यही भूतवाद और अध्यात्मवादमें मौलिक भेद है।

अध्यात्मवादमें वे—अहिंसा और अपरिग्रह आत्मौपम्यकी भूमिका पर अवस्थित हैं। दूसरोंके हित-अहितको अपने हित अहितसे तोलना जहाँ अध्यात्मवादकी सूझ है; वहाँ अपने हितों की रक्षाके लिए अहिंसा, अपरिग्रह और विश्वशान्तिकी बातें करना दूसरोंके हितको कुचलते समय उन्हें भूल जाना, यह भूतवादकी देन है।

आचार्यश्री तुलसी अपनी सत्प्रेरणाओं द्वारा मनुष्य समाजको

अध्यात्मवादी, दूसरे शब्दोंमें आत्मौपम्यवादी बनाना चाहते हैं। यहींसे उनके जीवनका दिव्य आलोक निखरता है, यहींसे युगको बदलनेवाली व्यक्तिताकी निगूढ़ सम्भावनाएं हमारी धारणाओंको पल्लवित करती हैं।

हिन्दी जगत्के सुप्रसिद्ध साहित्यकार और विचारक श्री जैनेन्द्र-कुमारने आचार्यश्रीके व्यक्तित्वका नपे-तुले शब्दोंमें विश्लेषण करते हुए *कहा :—

"जैन-आचार्य श्री तुलसीगणीसे मैं मिला और उनके व्यक्तित्वसे इतना प्रभावित हुआ कि अति शीघ्र उनके सम्पर्कमें आ गया। मैं तेरापन्थी नहीं हूं और जैन भी हूं या नहीं, इसे जैन ही बतला सकते हैं। कोई वाद या मत लेकर नहीं, वरन् केवल इन्सानके रूपमें तुलसीजी के सामने मैं गया पर उनके अन्तरंगकी छाप मुझ पर ऐसी पड़ी कि मैं अपनेको भूल सा गया। तुलसीजी शान्तिप्रिय और बिना किसी वादके व्यक्ति हैं। उनका व्यक्तित्व इस श्रद्धामें पगा हुआ है कि अहिंसा से ही सारी समस्यायें हल हो सकती हैं। पहले तो मुझे शंका होती थी कि अहिंसासे ही सारी समस्याओंका समाधान कैसे संभव है परन्तु इसकी तह तक पहुंचने पर मेरी शंका दूर हो गई। तुलसीजीका यह दृढ़ विश्वास है कि जीवनका मार्ग अहिंसा द्वारा है, जिसका एक रूप अपरिग्रह है। उनकी इसी विचारधाराकी छाप मेरे ऊपर पड़ी। अहिंसा और अपरिग्रहमें मेरी श्रद्धा, जो हिलती-डुलती सी थी, दृढ़ हो गई।

---

* जैन-भारती वर्ष १२ संख्या १ जनवरी १९५२

अहिंसा धर्म है और धर्म पर ही दुनियांकी सारी चीजें आधारित हैं। यदि धर्मका नाश हो जाय तो चमकनेवाले चांद और सूर्यका भी नाश होय। मेरे पास और कुछ नहीं, एक यही लगन है कि अहिंसासे ही कुछ होनेवाला है। मैं जी रहा हूं केवल इसी श्रद्धाके बल पर। तुलसीजीसे हमारे सर्वस्वकी रक्षा हो गई। जो अपनेको तुलसीजीका अनुयायी मानते हैं, वे स्वयं अनुभव करते होंगे कि तुलसीजीसे उन्हें कितनी शक्ति मिलती है और यदि वे ऐसा नहीं समझते तो इसका मतलब होगा कि वे तुलसीजीके पास पहुंचनेके लिए भेंड़ियाधसान करते हैं। उनके अनुयायी यह समझते होंगे कि उनसे उन्हें कितनी शक्ति मिलती है। उन्हें चाहिए कि वे उनकी शक्तिको अपनेमें सन्नि-हित करें क्योंकि शक्तिका ही सम्पूर्ण विश्वमें प्रभाव है। उनमें महा-शक्ति है। हमें चाहिए कि शक्ति आये तो हम उसे सोखलें, हम उसका स्पर्श करें। उसी शक्तिसे हम अपना भोग प्राप्त करें। हमें चाहिए कि हम उन महापुरुषकी शक्तिमें अपनी शक्तिको भी मिला दें। जिस प्रकार अन्य नदियोंके मिलनेसे गङ्गामें महाशक्ति आ जाती है और अन्य नदियां भी गंगासे शक्ति प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार आचार्यश्री तुलसीकी शक्तिमें यदि हम अपनी शक्ति भी मिला दें तो महाशक्ति हो जायगी।"

महापुरुषके जीवन-सरोवरमें हंस होकर तैरना, क्षीर-नीर विवेक करना सहज नहीं होता। फिर भी इसमें प्रधान भाव

पूर्ण दर्शन

मानसकी गतिका है। हम प्रत्येक वस्तुको अप-नानेसे पूर्व उसके औचित्यको हृदयङ्गम कर लेते

हैं। बाकी रहती है बात वाणी द्वारा व्यक्त करने की।

मानवका जीवन-प्रासाद आचार-विचारके विशाल स्तम्भों पर बनता है। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अनाशक्ति ये एक कोटिके हैं। दूसरी कोटिके हैं—क्षमा, धैर्य, औदार्य, नम्रता, सरलता आदि आदि। आपमें दोनों प्रकारके गुण इस प्रकार छलाछल भरे हैं कि उन्हें समझनेके लिए कविकी कल्पना और दार्शनिकका चिन्तन अधीर हो उठता है।

नैरन्तरिक कठोर श्रम, सुदृढ़ अध्यवसाय देखते ही बनते हैं। रातके चार बजेसे कार्यक्रम शुरू होता है, वह दूसरी रातके दश बजे तक चलता रहता है। आहारका समय भी किसी अध्यवसाय या चिन्तनसे अधिक बार खाली नहीं जाता। स्वाध्याय, मनन, चिन्तन, अध्यापन, व्याख्यान, आगन्तुक व्यक्तियोंसे बातचीत, इस प्रकार एकके बाद दूसरे कार्यकी शृङ्खला जुड़ी रहती है।

आपमें जन-उद्धारकी विभिन्न उमंगें इस प्रकार उछालें भरती हैं, मानो आकाश-मण्डलको पखारनेके लिए समुद्रकी उर्मियां उछल रही हों।

परिस्थितियोंका सामना करनेकी क्षमता अपना अलग महत्त्व रखती है। आपने इस पन्द्रहवर्षीय नेतृत्वमें संघके ऊपर छाई अनेक परिस्थितियोंका अपूर्व कौशलके साथ सामना किया है। इस विषयमें 'कम बोलना, कार्य करते रहना' आपकी यह नीति बहुत सफल हुई है।

बालक, युवा, वृद्ध, सभ्य और ग्रामीण सबके साथ उनके जैसा बनकर व्यवहार करना, यह आपकी अलौकिक शक्ति है।

आप आदर्शवादी होते हुए भी व्यवहारकी भूमिकासे दूर नहीं रहते। आज नई और पुरानी परम्पराओंका संघर्ष चल रहा है। आधुनिक आदमी पुरानी परम्पराको रूढ़ि कहकर उसे तोड़ना चाहता है। उधर पुराने विचारवाले नये रीति-रिवाजोंको पसन्द नहीं करते, यह एक उलझन है। आचार्यश्री इनको मिलानेवाली कड़ी हैं। आपमें नवीनता और प्राचीनताका अद्भुत सम्मिश्रण है इसे देखकर हमें महाकवि *कालीदासकी सूक्तिका स्मरण हो आता है :—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं,
न चापि··· · नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते,
मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

एक विषयको दश बार स्पष्ट करते-करते भी आप नहीं झल्लाते, तब आपकी क्षमा-वृत्ति दर्शकोंको मन्त्रमुग्ध किये बिना नहीं रहती।

आपके उदात्त विचार जनताके लिए आकर्षणके केन्द्र हैं। कथनी और करनीमें समानता होना 'यथावादी तथकारी' के जैनत्वका द्योतक है। अध्यात्मवादी बिन्दुके आस-पास घूमनेवाले

---

* मालविकाग्निमित्र

विचार व्यावहारिक नहीं होते, यह तथ्यहीन धारणा है। आपने इसे बदलनेको प्रचुर विचार-सामग्री दी है। वह संकलित हो जनताका सही पथ-दर्शन कर सकेगी, हमें ऐसा विश्वास है।

आपने जात-पांतके भेदभावसे दूर विशुद्ध आध्यात्मिक भावना की आवाज बुलन्द कर धर्मके लिए नई भूमिका तैयार की है। धर्म से दूर भागनेवाला आजका क्रान्तिकारी युवक एक बार फिर इसकी ओर देखनेके लिए बाध्य हुआ है। साधु समाजके लिए उपयोगी नहीं हैं, इस भावना पर आपने अणुव्रती संघकी स्थापना कर करारा प्रहार किया है। नैतिक व चारित्रिक बलका सहयोग देनेवाला वर्ग समाजके लिए भार नहीं, अपितु उसका उन्नायक होता है।

आपने अपनी व संघ (तेरापन्थ) की साहित्य-साधना, शिक्षा तथा व्यापक प्रचारके द्वारा पूर्ववर्ती जैन-सन्तोंके गौरवका पूर्ण प्रतिनिधित्व किया है।

इस प्रकार आचार्यवरके जीवनकी एक झांकी हमारे लिए आनन्द और उल्लासका विषय है। जीवनका पूर्ण दर्शन शब्दावली में नहीं होता।

आप चिरकाल तक हमारा नेतृत्व करें। अहिंसा-धर्मके आलोकसे विश्वको आलोकित करें।